भारतीय राजनीति के अस्सी वर्ष

लेखक

सर सी० वाई० चिंतामणि

प्रधान संपादक, 'लीडर'

अनुवादक

केशवदेव शर्मा

१९४०

हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

श्री गोपाल कृष्ण गोखले

समर्पण

विनम्र तथा कृतज्ञ हृदय से

श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक

अपने राजनीतिक गुरु

भारत के सब से महान देशभक्त-राजनीतिज्ञ

श्रीगोपालकृष्ण गोखले

की पवित्र स्मृति में

अनुवादक का वक्तव्य

सन् १९३५ में श्री (अब सर) सी० वाई० चिंतामणि ने आंध्र विश्वविद्यालय का निमंत्रण स्वीकार कर के "भारतीय राजनीति, सिपाही विद्रोह के समय से" इस विषय पर चार व्याख्यान दिए थे। सन् १९३७ में ये व्याख्यान पुस्तकाकार प्रकाशित कर दिए गए। प्रस्तुत पुस्तक उसी का हिंदी रूपांतर है।

पुस्तक का विषय भारतीय जनता के दृष्टिकोण से जैसा मनोरंजक है वैसा ही महत्वपूर्ण। साथ ही इस विषय पर लिखने के लिए श्री चिंतामणि अत्यंत उपयुक्त व्यक्ति भी हैं। लगभग चालीस वर्ष से आप देश के सार्वजनिक, विशेषतः राजनीतिक जीवन में सक्रिय रूप से भाग लेते रहे हैं। पहले आप कांग्रेस के उत्साही कार्यकर्ता थे और जब से नरम दल वालों ने लिबरल पार्टी के नाम से अपनी पृथक संस्था क़ायम कर ली है तब से आप उस के मुख्य स्तंभों में हैं। यह समय, विशेष कर पिछले बीस वर्ष का समय, भारतीय राजनीति में जनता तथा सरकार के बीच संघर्ष का समय रहा है। एक राष्ट्रवादी के नाते श्री चिंतामणि ने इस संघर्ष में सक्रिय रूप से भाग भी लिया है और कांग्रेसमैन न होने के फल-स्वरूप किसी हद तक आप उस से अलग भी रहे हैं। इस प्रकार आप संघर्ष की पूरी-पूरी जानकारी भी रखते हैं और साथ ही उस का वर्णन करने में निष्पक्ष भी हो सकते हैं।

श्री चिंतामणि की एक विशेषता यह भी है कि कांग्रेस के पिता स्वर्गीय दादाभाई नौरोजी से लेकर आज तक के नेताओं तक उन्हें देश के अधिकांश प्रमुख व्यक्तियों के संपर्क में आने तथा उन की विशेषताओं का निकट से अध्ययन करने का असाधारण अवसर मिला है। अतः जिस प्रकार वे भारत की राजनीतिक प्रगति पर अधिकारपूर्ण ढंग से विचार प्रकट कर सकते हैं, उसी प्रकार उस प्रगति को अग्रसर करनेवाले नेताओं के संबंध में भी निजी जानकारी के आधार पर लिख सकते हैं। और दोनों ही दृष्टियों से उन की पुस्तक महत्वपूर्ण है। यदि एक ओर उस में राजनीतिक प्रगतियों की प्रामाणिक व्याख्या है, तो साथ ही दूसरी ओर उन प्रगतियों को अग्रसर करनेवाले नेताओं तथा प्रमुख कार्यकर्ताओं का सजीव वर्णन भी है।

ग़दर का समय भारतीय राजनीति में एक उल्लेखनीय घटना है और इसलिए चिंतामणि जी का अपनी पुस्तक को ठीक उस के बाद से ही प्रारंभ करना आश्चर्य की बात नहीं है। ग़दर भी एक प्रकार से भारत के लिए स्वतंत्रता प्राप्त करने का प्रयत्न कहा जा सकता है, परंतु वह प्रयत्न जनता की ओर से न होकर कुछ लोगों की ओर से था। इस के सिवाय उस के अनेक नेताओं के सम्मुख देश की स्वतंत्रता के बजाय कुछ और ही उद्देश्य था। आज हम देश में स्वराज्य के लिए जो राजनीतिक आंदोलन देख रहे हैं, आज देश में जो यह भावना व्यापक रूप से फैल गई है कि जनता का शासन जनता ही के लाभार्थ तथा जनता ही के प्रतिनिधियों द्वारा होना चाहिए, दूसरे शब्दों में आज जो लोकतंत्रात्मक शासन की स्थापना के लिए देश-व्यापी परंतु शांतिपूर्ण प्रबल प्रयत्न चल रहा है, उस का श्रीगणेश ग़दर के बाद से ही हुआ है और उसे साकार रूप कांग्रेस की स्थापना से ही मिला है। ग़दर सन् १८५७ में हुआ था; श्री चिंतामणि ने यह व्याख्यानमाला सन् १९३५ में तैयार की थी, परंतु पुस्तक-रूप में वह सन् १९३७ के अंत में प्रकाशित हुई थी और इन दो

वर्षों की मुख्य-मुख्य बातों का पुस्तक में फुटनोटों द्वारा समावेश कर दिया गया था। इस प्रकार श्री चिंतामणि की पुस्तक भारत के अस्सी वर्ष के राजनीतिक प्रयत्नों का इतिहास है और इसी कारण मैं ने हिंदी पुस्तक का नाम 'भारतीय राजनीति के अस्सी वर्ष' कर दिया है।

लेखक महोदय ने इस अस्सी वर्ष के समय को चार भागों में विभाजित करके उन पर विस्तृत रूप से तथा गंभीरतापूर्वक अपने विचार प्रकट किए हैं, और काफ़ी निष्पक्षता के साथ। लिबरल पार्टी के एक प्रमुख स्तंभ होते हुए भी उन्हों ने उस की कमज़ोरी को छिपाने की कोशिश नहीं की है; और न कांग्रेस की नीति के कुछ पहलुओं से मतभेद होने के कारण उस के महत्व को कम करने का ही प्रयत्न किया है। पाँचवें तथा अंतिम परिच्छेद में अस्सी वर्ष की प्रगति का संक्षिप्त रूप से सिंहावलोकन करते हुए भविष्य संबंधी आशा तथा निराशा पर दृष्टिपात किया गया है। नेताओं के चरित्र-चित्रण के संबंध में चिंतामणि जी विशेष-रूप से बधाई के पात्र हैं। वे स्वयं नौरोजी और मेहता, रानाडे और गोखले के अनुयायी हैं और गोखले को तो अपना राजनीतिक गुरु ही मानते हैं। ऐसी स्थिति में उक्त विचार-धारा के कार्यकर्ताओं का सुंदर चित्रण कर सकने में सफलता प्राप्त होना तो उन के लिए स्वाभाविक था, परंतु जिन के राजनीतिक विचारों से वे असहमत हैं उन के साथ अगर उन से अनजाने अन्याय भी हो जाता तो कोई आश्चर्य की बात न होती। किंतु ऐसा हुआ नहीं है। लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी से ले कर पं० जवाहरलाल नेहरू तथा बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन तक जिन सज्जनों की नीति से उन्हों ने अपना मतभेद प्रकट किया है उन की भी दिल खोल कर प्रशंसा करने में उन्हों ने कहीं संकोच नहीं किया है, और इन में से अनेक का चित्रण बड़ा सुंदर हुआ है। गांधी जी के व्यक्तित्व की, विशेषतः उन के चरित्र की, व्याख्या तो बड़ी ही सुंदर हुई है।

मेरा विश्वास है कि जो राजनीति-प्रेमी पाठक भारतीय राजनीति के

भूत, वर्तमान तथा भविष्य को समझना चाहते हैं, उन के लिए इस पुस्तक का अध्ययन बड़ा उपयोगी और साथ ही मनोरंजक भी सिद्ध होगा। परंतु अपने देश के राजनीतिक आंदोलन में दिलचस्पी रखनेवाले सभी पाठक अंग्रेजी जानने वाले ही नहीं हैं, इसलिए मेरी यह इच्छा हुई कि हिंदी पाठकों के लिए इस का हिंदी रूपांतर भी हो जाता तो अच्छी बात थी। श्री चिंतामणि जी के प्रति मेरे हृदय में जो श्रद्धा है उस के कारण मैं इसे अपना सौभाग्य ही समझता हूं कि उन की पुस्तक का अनुवाद करने का अवसर मुझे मिला। आंध्र विश्वविद्यालय ने, जो कि मूल पुस्तक का प्रकाशक है, मुझे अनुवाद करने की अनुमति प्रदान की और हिंदुस्तानी एकेडेमी ने अनुवाद को प्रकाशित करना स्वीकार किया, इस के लिए मैं इन दोनों का आभारी हूं। श्री चिंतामणि जी का एक राजनीतिक दल से घनिष्ठ संबंध होते हुए भी उन्हों ने इस पुस्तक को दलबंदी की भावना से मुक्त रह कर लिखा है। इसी लिए आंध्र विश्वविद्यालय जैसी संस्था ने उसे प्रकाशित करना उचित समझा; और इसी लिए उस के हिंदी अनुवाद का भी एकेडेमी जैसी संस्था द्वारा प्रकाशित होना उचित है। अंत में मैं इस आशा तथा विश्वास के साथ इस वक्तव्य को समाप्त करता हूं कि पाठकगण भी उस का अध्ययन करते समय अपने को राजनीतिक दलबंदी की भावना से मुक्त रक्खेंगे।

अनुवादक

इलाहाबाद, २८ दिसंबर, १९३९

प्रस्तावना

आंध्र विश्वविद्यालय के विद्वान तथा प्रतिष्ठित अधिष्ठाता सर एस० राधाकृष्णन ने मुझे अपने विश्वविद्यालय की ओर से किसी एक विषय पर तीन व्याख्यान देने के लिए निमंत्रित किया था। मैं ने उन की इस कृपा को स्वीकार कर लिया और अपने मित्र माननीय सर तेज बहादुर सप्रू तथा मेहता कृष्णाराम के परामर्श से इन भाषणों के लिए विषय चुना "भारतीय राजनीति, सिपाही-विद्रोह के समय से"। कृष्णाराम जी 'लीडर' के संपादन तथा संचालन में मेरे सहयोगी हैं और मैं इस बात के लिए उन का बड़ा कृतज्ञ हूं कि वे अकसर अपने काम के सिवाय मेरे हिस्से का काम भी अपने ऊपर ख़ुशी से ले लेते हैं ताकि मैं सार्वजनिक कार्यों में भाग ले सकूं। इन भाषणों की व्यवस्था सर राधाकृष्णन के कहने से मद्रास के विद्वान एडवोकेट-जनरल सर अल्लादी कृष्णस्वामी ऐयर ने की है और इसलिए वे 'अल्लादी कृष्णस्वामी ऐयर व्याख्यानमाला' कहलाते हैं। इस निमंत्रण के द्वारा सर राधाकृष्णन ने मुझे जो सम्मान प्रदान किया है, उस के लिए मैं उन का कृतज्ञ हूं।

यह निमंत्रण मेरे लिए इस कारण और भी विशेष संतोष का विषय था कि भाषण मुझे आंध्र विश्वविद्यालय की छत्रछाया में और विज़ागापट्टम ज़िले में देने थे। इसी ज़िले के विजयानगरम नगर में मेरा जन्म हुआ था और वहीं के महाराजा सर आनंद गजपति राज़, जी० सी०

आई० ई०, की उदारतापूर्ण सहायता के फल-स्वरूप मैं ने वहीं के महाराजा कॉलेज में शिक्षा प्राप्त की थी। विज़ागापट्टम में ही सन् १८६८ में मैं ने पत्रकार के रूप में अपने सार्वजनिक जीवन का श्रीगणेश किया था। छत्तीस वर्ष से अब मैं उस ज़िले का निवासी तो नहीं रहा, परंतु मित्रों तथा संबंधियों के द्वारा मेरा उस से संपर्क तो बना ही रहा है। मेरे कई कुटुंबी अब भी वहीं रहते हैं। ऐसे स्थान का मेरे लिए प्रिय होना स्वाभाविक ही है, और वहां से निमंत्रण मिलना मेरे लिए आनंद का ही विषय हो सकता था।

जिन हज़ारों श्रोताओं ने मेरे इन व्याख्यानों को सुना, उन की बाबत यह स्वीकार करना मेरा कर्तव्य है कि उन्हों ने बड़े धैर्यपूर्वक तथा बड़ी शिष्टतापूर्वक उन्हें सुना। असल में तीन व्याख्यान देने का विचार रहते हुए भी, उन की लंबाई के कारण मुझे चार दिन व्याख्यान देना पड़ा। कुल मिला कर मुझे सात घंटे से अधिक बोलना पड़ा, परंतु श्रोताओं का भाव बड़ा सौजन्यपूर्ण रहा। अपने एक ऐसे भाई के प्रति, जो देश के एक अन्य भाग में रहता हुआ भी उन्हीं का है, उन्हों ने जो कृपा दिखाई उस के लिए मैं उन का कृतज्ञ हूं।

भाषणों के पुस्तकाकार प्रकाशित होने में जो इतना विलंब हुआ, उस का दोषी मैं ही हूं। इस के लिए मैं आंध्र विश्वविद्यालय के अधिकारियों से क्षमा-याचना करता हूं। कार्याधिक्य, अस्वस्थता तथा बढ़ते हुए बुढ़ापे के कारण मुझे इन व्याख्यानों को पुस्तक का रूप प्रदान करने में इतना विलंब हुआ, इस का मुझे खेद है।

पुस्तक का प्रायः वही रूप है जिस रूप में कि मैं ने व्याख्यान दिए थे। कहीं-कहीं कुछ शब्दों का हेर-फेर कर दिया गया है या कुछ वाक्य बढ़ा दिए गए हैं।

इस पुस्तक में मैं ने यह दिखाने की कोशिश की है कि पिछले ७७ वर्षों में (१८५८-१९३५) भारत में सार्वजनिक जीवन और राजनीतिक

विचारों तथा संस्थाओं का किस प्रकार क्रमविकास हुआ है। इस समय को मैं ने चार भागों में विभाजित किया है।

(१) ग़दर और कांग्रेस की स्थापना के बीच का २७ वर्ष का समय (१८५८-१८८५)

(२) कांग्रेस की स्थापना के बाद के प्रथम बीस वर्ष (१८८५-१९०५)

(३) बंग-भंग आंदोलन से लेकर असहयोग आंदोलन तक का समय (१९०५-१९१९)

(४) असहयोग आंदोलन के प्रारंभ से लेकर अब तक का सोलह वर्ष का समय (१९१९-१९३५)

जिन प्रमुख व्यक्तियों का अपने समय में राजनीतिक क्षेत्र में आधिपत्य रहा है अथवा जिन्हों ने अपने समय के राजनीतिक कार्यों में महत्त्वपूर्ण भाग लिया है, उन का उल्लेख करके मैं ने अपने विषय तथा अपने कथनों का स्पष्टीकरण करने की चेष्टा की है।

पाठकों की सुविधा के लिए व्याख्यानों को परिच्छेदों तथा उप-शीर्षकों में विभाजित कर दिया गया है।

जिन सज्जनों के विचारों से मैं सहमत नहीं हो सका हूं उन के प्रति मुझ से अन्याय न हो, इस बात की मैं ने भरसक कोशिश की है। लेकिन सच्चाई से कोशिश करते हुए भी मैं इस बात की आशा नहीं कर सकता कि मुझे अपने प्रयत्न में पूरी सफलता मिली होगी। जिन के प्रति अनजाने अन्याय हो गया हो उन से मैं क्षमा-याचना करता हूं।

सी० वाई० चिंतामणि

इलाहाबाद, १२ नवंबर, १९३७

विषय-सूची

प्रथम परिच्छेद

कांग्रेस के जन्म से पहले

जिस समय से हमारी कथा का प्रारंभ होता है, उस समय जिस प्रकार के सार्वजनिक जीवन से हम आज परिचित हैं, उस का अस्तित्व भी नहीं था। सन् १८५७ के ग़दर ने चारों ओर उथल-पुथल और गड़बड़ी पैदा कर दी थी और उस के दमन के साथ ही ईस्ट इंडिआ कंपनी का भी अंत कर दिया गया, और सम्राज्ञी विक्टोरिया ने भारत का शासन स्वयं अपने हाथों में ले लिया, यानी वह ब्रिटिश सरकार के हाथों में आ गया। कंपनी के समय में उस के भारतीय शासन पर नियंत्रण रखने के लिए जो सरकारी बोर्ड था, उस का ख़ातमा हो गया और उस के स्थान पर भारत-मंत्री तथा उन के परिषद् की स्थापना हुई। उक्त अवसर पर महारानी विक्टोरिया ने एक महत्वपूर्ण घोषणा की थी, जो भारतीय अधिकारों की दृष्टि से ऐतिहासिक कही जा सकती है। घोषणा के तीन प्रारंभिक वाक्य नीचे दिए जाते हैं, जिन से उस का महत्व पूरी तरह स्पष्ट हो जाता है :—

सन् १८५८ की घोषणा

हम अपने को अपनी भारतीय प्रजा के प्रति कर्तव्य के उन्हीं बंधनों से बँधा हुआ मानते हैं जो कि हमारी अन्य प्रजा के प्रति हैं। सर्वशक्तिमान ईश्वर की कृपा से हम इन कर्तव्यों का सचाई के साथ हृदय से पालन करेंगे।

हमारी यह भी इच्छा है कि, जहां तक संभव हो, हमारे प्रजा-जनों को उन की योग्यता, शिक्षा तथा ईमानदारी के अनुसार पक्षपात-रहित हो कर सरकारी नौकरियों में स्थान दिया जाय और उन की जाति या उन के धर्म का विचार न किया जाय।

हमारी हार्दिक इच्छा है कि भारत में शांतिपूर्ण वातावरण में उद्योग-धंधों की उन्नति की जाय, सर्व-साधारण के लाभ और सुधार के कार्य किए जायँ और शासन-कार्य का इस प्रकार संचालन किया जाय कि हमारी समस्त प्रजा का कल्याण हो। प्रजा की समृद्धि ही हमारी शक्ति होगी, उस का संतोष ही हमारी रक्षा का साधन होगा और उस की कृतज्ञता ही हमारा सब से बड़ा पारितोषिक होगा। और हमारी परमपिता से प्रार्थना है कि वह हमें और हमारे अधिकारियों को हमारी इन इच्छाओं का जनता की भलाई के लिए पालन करने की शक्ति प्रदान करे।

इस घोषणा को महारानी विक्टोरिया के प्रथम वायसराय लार्ड कैनिंग ने १ नवंबर, सन् १८५८ को गंगा और यमुना के संगम के निकट प्रयाग की पवित्र नगरी में पढ़ कर सुनाया था। यदि इंगलैंड ने भारत का शासन सदा इस घोषणा में प्रकट किए गए उदार भावों के अनुसार ही किया होता, तो भारतीय राजनीति का प्रवाह किसी और ही दिशा में हुआ होता। उस हालत में ब्रिटिश लोकमत और भारतीय लोकमत गंगा और यमुना की धाराओं की भाँति मिल कर एक हो गए होते और भारतीय जनता की दृष्टि में राजभक्ति तथा देशभक्ति का एक ही अर्थ हो गया होता। भारत के सब से अधिक उदार वायसराय (लार्ड रिपन) की यह आकांक्षा पूरी हो गई होती कि इंगलैंड की भाँति ही भारत में भी शासन पर लोकमत का पूरा-पूरा नियंत्रण रहे। महारानी विक्टोरिया ने अपनी घोषणा में कही गई बातों की पूर्ति के लिए परम-पिता से शक्ति प्रदान करने की प्रार्थना की थी। अगर अधिकारीगण

उसी धार्मिक भावना से प्रेरित हो कर कार्य कर सकते, तो वे भारत-वासियों से कहते कि "तुम्हारे देश का शासन तुम्हारा काम है। तुम्हें शासन की ज़िम्मेदारी सँभालने लायक़ बनाने में हम जो कुछ कर सकते थे, कर चुके। अब तुम अपने देश का शासन सँभालो और हम इस काम से छुट्टी ले कर जाते हैं।" और तब भारतवासी जवाब में कहते कि "हाँ, लेकिन हम चाहते हैं कि तुम यहां ठहरे रहो, हमारे मालिक बन कर नहीं, बल्कि एक ही उद्देश्य की पूर्ति में लगे हुए सहयोगियों के रूप में।" परंतु इस संसार का यह दुर्भाग्य है कि जिनके हाथ में राजनीतिक अधिकार रहता है, वे परमात्मा को और नीति-अनीति के विचार को बड़ी आसानी से भूल जाते हैं। परिणाम वह होता है जो हम खेदपूर्वक भारत में देख रहे हैं। ब्रिटेन और भारत के बीच पहले से अधिक मनमोटाव, भारतवासियों में ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के प्रति अविश्वास और इस प्रकार की भावना का प्राबल्य कि वैध आंदोलन से, अपने विरोधी को समझा-बुझा कर ठीक मार्ग पर लाने के ढंग से, भारत को स्वराज्य की प्राप्ति नहीं हो सकती।

आधुनिक ढंग के सार्वजनिक जीवन की नींव बंगाल में उस महान व्यक्ति राजा राममोहन राय ने रक्खी। उन्हों ने धार्मिक-सुधार का आंदोलन उठाया और ब्रह्मसमाज की स्थापना की, समाज-सुधार का सूत्रपात किया और स्त्रियों की दशा सुधारने का प्रयत्न प्रारंभ किया, आधुनिक बँगला साहित्य के विकास का श्रीगणेश किया, जो आज इतना संपन्न हो चुका है और भारत में अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार कराने में प्रमुख भाग लिया। उन्हों ने राजनीतिक उन्नति की ओर भी ध्यान दिया और इस बात का आंदोलन उठाया कि शासन-विभाग के अधिकारियों के हाथ में न्याय-विभाग के अधिकार न रहें। पार्लमेंटरी कमेटी के सम्मुख अपने विचार उपस्थित करने के लिए विलायत-यात्रा करनेवाले सर्व-प्रथम भारतीय राजा

राजा राम-मोहन राय

राममोहन राय ही थे। उन का स्वर्गवास हुए एक शताब्दी से अधिक समय बीत चुका, परंतु खेद की बात है कि शासन-विभाग तथा न्याय-विभाग का पृथक्करण आज भी नहीं हो पाया है। उन्हों ने एक पत्र भी निकाला था जो भारतीय संपादन में निकलने वाला संभवतः प्रथम पत्र था। राजा राममोहन राय की यह बहुमुखी सेवा उस समय से पहले की है जिस का इस पुस्तक से विशेषतः संबंध है।

दादाभाई नौरोजी

बंबई प्रांत के सर्व-प्रथम सार्वजनिक कार्यकर्ता, जहां तक मालूम हो सका है, मिस्टर नौरोसजी फ़र्दूनजी थे। जब भारत के सब से महान देश-भक्त दादाभाई नौरोजी विद्यालय में शिक्षा ग्रहण कर रहे थे, उस समय फ़र्दूनजी को उन के शिक्षक होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। दादाभाई नौरोजी के सार्वजनिक जीवन का श्रीगणेश बीस वर्ष की अवस्था में हुआ था और ९१ वर्ष तक वे अपूर्व अध्यवसाय तथा अद्भुत तन्मयता के साथ देश-सेवा के कार्य में लगे रहे। यही कारण था कि उन के देशवासी उन्हें प्रेमपूर्वक ऋषिकल्प दादाभाई नौरोजी कहने लगे थे। सन् १८२५ में उन का जन्म हुआ था और ८१ वर्ष की अवस्था में उन्हों ने राज-नीति से अवकाश ग्रहण किया। जब सन् १९१७ में ९२ वर्ष की अवस्था में उन का स्वर्गवास हुआ तो ऐसा मालूम देता था जैसे किसी संस्था का अंत हो गया हो। भारत के सार्वजनिक जीवन को अनेक प्रतिभाशाली व्यक्तियों तथा निःस्वार्थ देशभक्तों ने सुशोभित किया है, परंतु हमारे समय में कोई दूसरा व्यक्ति ऐसा नहीं हुआ जिसे दादाभाई नौरोजी का समकक्ष कहा जा सके। उन्हों ने भारत और इंगलैंड में मिला कर तीस संस्थाओं की स्थापना की, जिन में से अधिकांश का उद्देश्य देश की राजनीतिक उन्नति के लिए प्रयत्न करना था; परंतु कुछ का ध्येय समाज-सुधार का और विशेष कर स्त्रियों की शिक्षा और उन्नति के लिए कार्य करना था। वे ही बंबई के सर्वप्रथम बालिका-

विद्यालय के जन्मदाता थे और सर्वप्रथम समाचारपत्र के संस्थापक। कांग्रेस की स्थापना करनेवालों में भी उन का बड़ा प्रमुख स्थान था। उन के अंतिम वर्षों में मुझे भी उन का परिचय प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था और उन से अधिक उदारचरित व्यक्ति मैं ने दूसरा नहीं देखा। उन के दर्शन मात्र ही से उन के प्रति श्रद्धा की भावना उत्पन्न हो जाती थी। मिस्टर लालमोहन घोष के शब्दों में, उन्हें देख कर उन के देशवासियों का हृदय सम्मान, ईर्ष्या तथा निराशा से भर जाता था—सम्मान उन की देश-सेवा के कारण, ईर्ष्या और निराशा यह सोच कर कि जितना काम उन्हों ने किया है उतना हम कदापि नहीं कर सकते। मिस्टर गोखले ने उन के लिए कहा था कि "अगर मनुष्य में देवत्व हो सकना संभव है, तो वह दादाभाई में है।"

मद्रास प्रांत के सार्वजनिक कार्यकर्ताओं में सब से पहला नाम मिस्टर लक्ष्मी नरसिंह चेट्टी का है, जिन्हों ने मद्रास नेटिव असोसिएशन तथा 'क्रेसेन्ट' नामक पत्र की स्थापना की थी।

जिन अन्य सज्जनों ने कांग्रेस के जन्म से पहले सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया था और बाद को देश के सम्मानित नेताओं में स्थान प्राप्त किया, उन में निम्नलिखित नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :—बंबई में महादेव गोविंद रानाडे, बदरुद्दीन तैयबजी, फ़ीरोज़शाह मेहता, काशीनाथ त्र्यंबक तैलंग, दीनशा ईदलजी वाछा, झवेरीलाल उमाशंकर याज्ञिक, रहमतउल्ला सैयानी, नारायण गणेश चंदावरकर और बाल गंगाधर तिलक; बंगाल में उमेशचंद्र बनर्जी, मनमोहन घोष, सुरेंद्र नाथ बनर्जी, लालमोहन घोष, आनंदमोहन बोस और कालीचरण बनर्जी; मद्रास में एस० सुब्रह्मण्य ऐयर, जी० सुब्रह्मण्य ऐयर, आनंद चार्लू, रामास्वामी मुदालियर और विजयराघवाचार्य; और संयुक्त प्रांत में पंडित मदनमोहन मालवीय।

ब्रिटिश इंडिअन असोसिएशन

भारत की सर्वप्रथम सार्वजनिक संस्था बंगाल, बिहार और उड़ीसा के ज़मींदारों की सभा थी जिस का नाम था, ब्रिटिश इंडिअन असोसिएशन, कलकत्ता। उस पुराने समय में इसी ने एक प्रकार से राजनीतिक आंदोलन का श्रीगणेश किया था। असोसिएशन का 'हिंदू पेट्रिअट' नामक एक पत्र भी था। इस पत्र के विख्यात संपादक हरिश्चंद्र मुकर्जी, उन के उत्तराधिकारी कृष्णदास पाल, वक्ता-प्रवर रामगोपाल घोष, राजा दिगंवर मित्र, महाराजा रामनाथ, सर ज्योतींद्रमोहन ठाकुर, महाराजा बहादुर सर नरेंद्रकृष्ण, राजा राजेंद्र नारायणदेव बहादुर तथा राजा राजेंद्रलाल मित्र ने इसी संस्था के द्वारा सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया था। तत्कालीन बंगाल के एक अन्य परम प्रतिष्ठित कार्यकर्ता पादरी के० एम० बनर्जी थे। आज तक जिन ईसाई सज्जनों ने राष्ट्रीय आंदोलन में सहयोग प्रदान किया है, उन में आप का बड़ा ऊँचा स्थान है। ब्रिटिश इंडिअन असोसिएशन मुख्यतः ज़मींदारों की संस्था होने के कारण कुछ समय में एक ऐसी संस्था की ज़रूरत महसूस होने लगी जिसे अधिक व्यापक अर्थ में जनता की संस्था कहा जा सके। इस प्रकार बंगाल नेशनल लीग का जन्म हुआ, जिस के जन्मदाताओं में बाबू शिशिरकुमार घोष मुख्य थे। घोष बाबू 'अमृतबाज़ार पत्रिका' के संस्थापक तथा परलोक-विज्ञान के विख्यात ज्ञाता थे। परंतु मिस्टर सुरेंद्रनाथ बनर्जी तथा मि० आनंदमोहन बोस द्वारा संस्थापित इंडिअन असोसिएशन ने शीघ्र ही लीग के स्थान पर अधिकार कर लिया। यह संस्था आज भी सजीव अवस्था में है।

बंबई प्रांत में

उस समय बंबई प्रांत में इसी प्रकार की संस्था बांबे असोसिएशन नाम की थी, जिस के मुख्य कार्यकर्ता प्रसिद्ध क़ानूनदां विश्वनाथ नारायण मांडलिक थे। कुछ साल बाद इस

संस्था का स्थान बांबे प्रेसीडेन्सी असोसिएशन ने ले लिया, जिस के साथ सर फ़ीरोज़शाह मेहता तथा सर दीनशा वाछा के नाम अमिट रूप से जुड़े हुए हैं। बंबई प्रांत में होते हुए भी, मराठों की पुरानी राजधानी के नाते पूना ने अपना स्वतंत्र अस्तित्व सदा क़ायम रक्खा है। इस नगर में सार्वजनिक सभा नाम की संस्था ने, जिस के महादेव गोविंद रानाडे प्राण तथा सर्वस्व थे, वर्षों देश की भारी सेवा की। सभा के सदस्यों के बीच मतभेद उत्पन्न हो जाने के फल-स्वरूप, बाद को मि० रानाडे के ही नेतृत्व में दक्षिण सभा की स्थापना हुई। पहले सार्वजनिक सभा को और फिर दक्षिण सभा को अनेक वर्षों तक मि० गोखले जैसा सुयोग्य मंत्री मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। सार्वजनिक सभा की त्रैमासिक पत्रिका, जिस में श्री रानाडे के लेख अधिकतर रहते थे, अपने ढंग की एक ही थी। उस के अंकों में बड़ी विचार-सामग्री रहती थी। मद्रास के नेटिव असोसिएशन का उल्लेख किया जा चुका है। कुछ समय बाद उस का स्थान महाजन सभा ने ले लिया।

समाचार-पत्र

इसी काल में भारतीयों द्वारा संपादित पत्र-पत्रिकाओं की उन्नति का सूत्रपात हुआ। बंगाल में 'हिंदू पेट्रिअट' के अतिरिक्त 'इंडिअन मिरर,' 'अमृतबाज़ार पत्रिका,' 'बंगाली' तथा 'रैयत' का जन्म हुआ। 'इंडिअन मिरर' के संस्थापकों में ब्रह्मसमाज के विख्यात नेता केशवचंद्र सेन भी थे। उस के प्रथम संपादक मि० मनमोहन घोष थे और बाद को बाबू नरेंद्रनाथ सेन, जिन्हों ने उस के द्वारा वर्षों देश की बड़ी सेवा की। 'पत्रिका' का संपादन बाबू शिशिरकुमार घोष के पश्चात्, उन के छोटे भाई बाबू मोतीलाल घोष ने किया। केवल देशी भाषाओं के पत्रों पर ही लागू होनेवाले वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट के प्रहार से बचने के लिए वह बँगला से अंग्रज़ी का पत्र हो गया। 'बंगाली' मि० उमेशचंद्र बनर्जी के हाथों से बाबू सुरेंद्रनाथ बनर्जी के हाथों में आ गया। आज के पत्रकारों

के मुँह में यह सुन कर पानी भर आवेगा कि 'पत्रिका' का पहला प्रेस २२) को ख़रीदा गया था और 'बंगाली' के लिए उस के नए स्वामी को २५) देने पड़े थे।[1] बंबई में मि० दादाभाई नौरोजी ने 'वॉइस आफ़ इंडिआ' की स्थापना की और मि० मांडलिक 'नेटिव ओपीनियन' का संचालन करते थे। 'इंडियन स्पैक्टेटर' मि० मालाबारी का पत्र था। मि० दीनशा वाछा अनेक पत्रों में प्रचुर मात्रा में लेख लिखते रहते थे। 'इंदुप्रकाश' पहले मि० तैलंग के हाथों में था और फिर मि० चंदावरकर के। 'केसरी' के संपादक पहले मि० आगरकर थे और बाद को मि० तिलक। अंग्रेज़ी के 'मराठा' का भी मि० तिलक ही संपादन करते थे। गुजराती और मराठी में भी कई पत्र थे। पत्र-जगत की उस समय की सब से अधिक उल्लेखनीय घटना मद्रास के 'हिंदू' की स्थापना थी। उस के प्रथम संपादक श्री जी० सुब्रह्मण्य ऐयर का नाम जब तक पत्रकार-कला का अस्तित्व रहेगा, तब तक अमर रहेगा। पंडित अयोध्यानाथ ने प्रयाग से 'इंडियन हैरल्ड' निकाला, परंतु तीन साल में एक लाख का घाटा दे कर वह बंद हो गया। पंजाब में सरदार दयाल सिंह मजीठिया ने 'ट्रिब्यून' को जन्म दिया।

यह तो जनता की ओर से होनेवाले कामों की बात हुई। सम्राज्ञी के हाथों में शासन आने के बाद सरकार की ओर से होनेवाला उन्नति का प्रथम कार्य कलकत्ता, बंबई तथा मद्रास में तीन विश्वविद्यालयों की स्थापना का था। सरकार का यह कार्य साहसपूर्ण तथा दूरदर्शितापूर्ण राजनीतिज्ञता का परिचायक था। विद्रोह के बाद ही विश्वविद्यालयों की स्थापना ब्रिटेन की ओर से भारत के प्रति सद्भावना तथा आशा का संदेश था। यह वैसी ही घटना थी जैसी कि सन् १८६८ में दक्षिण अफ़्रीका में बूरों पर विजय प्राप्त

विश्वविद्यालय

[1] सन् १८६६ में 'विज़ाग स्पैक्टेटर' का नाम (गुडविल) ख़रीदने के लिए मुझे २००) देने पड़े थे।

करने के पश्चात् लार्ड किचनर की ओर से उन की शिक्षण-संस्था के लिए आर्थिक सहायता की अपील निकालने की बात। इंगलैंड की इसी भावना का एक उदाहरण उस वार्तालाप से मिलता है जो बंबई प्रांत के प्रसिद्ध गवर्नर सर मान्स्टुआर्ट ऐलफिन्स्टन और लेफ़्टिनेन्ट-जनरल ब्रिग्ज़ के बीच हुआ था। ब्रिग्ज़ ने एक दिन एलफिन्स्टन के युद्ध-कालीन शिविर में मराठी में छपी हुई पुस्तकों का एक ढेर देख कर उन से पूछा, "ये पुस्तकें किस लिए हैं?" उन्हों ने उत्तर दिया, "देशी लोगों को शिक्षा प्रदान करने के लिए—यद्यपि हम जानते हैं कि इस शिक्षा का परिणाम यह होगा कि एक दिन अंग्रेज़ों को भारत को छोड़ कर यूरोप का रास्ता पकड़ना होगा।" ब्रिग्ज़ ने फिर कहा, "आश्चर्य है कि आप गवर्नर हो कर एक ऐसे कार्य का सूत्रपात करने जा रहे हैं, जिस का परिणाम ऐसा होगा।" उत्तर मिला, "कुछ भी हो, अपने कर्तव्य का पालन तो हमें करना ही होगा।" और मैकाले का कहना था कि यह कर्तव्य का मार्ग ही बुद्धिमत्ता, राष्ट्रीयता, समृद्धि तथा आत्म-सम्मान का भी मार्ग है।

इंडिअन कौंसिल्स ऐक्ट

तीन वर्ष बाद, सन् १८६१ में, पार्लामेंट से इंडिअन कौंसिल्स ऐक्ट पास हुआ। सिपाही विद्रोह से चंद साल पहले ही गवर्नर-जनरल की लैजिस्लेटिव कौंसिल की स्थापना हो चुकी थी, परंतु उस के सब सदस्य सरकारी कर्मचारी ही होते थे। सन् १८६१ के ऐक्ट में इस बात की व्यवस्था की गई कि कौंसिल में कुछ ग़ैर-सरकारी नामज़द सदस्य भी रहें। बंगाल, बंबई तथा मद्रास के लिए इसी तरह की प्रांतीय कौंसिलों की स्थापना की गई। लार्ड मेयो के शासन-काल में प्रांतीय सरकारों को कुछ आर्थिक स्वतंत्रता प्रदान करने तथा स्थानीय स्वराज्य की स्थापना करने का भी सूत्रपात हुआ। परंतु इन अच्छी बातों के साथ ही दूसरी ओर यह भी हुआ कि सन् १८७१ में ताज़ीरात-हिंद में राज-विद्रोह की धारा (१२४-अ) जोड़ दी गई और लार्ड लिटन

के समय में आर्म्स ऐक्ट (अस्त्र-संबंधी आईन) तथा वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट पास कर दिए गए। इन में से पिछला क़ानून तो उन के उत्तराधिकारी लार्ड रिपन के समय में रद्द कर दिया गया था; लेकिन पहला क़ानून कुछ थोड़े से परिवर्तन के साथ आज भी वर्तमान है। सन् १८७४ से १८८० तक का समय राजनीतिक प्रतिक्रिया का समय था। द्वितीय अफ़ग़ान युद्ध बिना यथेष्ट कारण के छेड़ दिया गया। उस से लाभ तो ब्रिटेन का समझा जाता था और उस का आर्थिक भार सहन करना पड़ा भारत को। हां, बाद को मि० ग्लैडस्टोन के प्रयत्न के फल-स्वरूप ब्रिटिश सरकार ने इस संबंध में भारत को ५० लाख पाउंड की नाकाफ़ी रक़म ज़रूर दी थी।

इंडिअन सिविल सर्विस

इसी समय इंडिअन सिविल सर्विस की भरती के नियमों में परिवर्तन किए गए, जो भारतीयों के लिए प्रतिकूल थे। जब पुरानी प्रथा का अंत करके भरती के लिए परीक्षा की प्रथा का प्रारंभ किया गया था, तब भारत के परम मित्र जॉन ब्राइट ने उस की आलोचना करते हुए कहा था कि उस के द्वारा भारतवासियों को अपने देश की सिविल सर्विस में प्रवेश प्राप्त कर सकने की बहुत कम सुविधा रहेगी। कहां तो १८३३ के ऐक्ट में और १८५८ की घोषणा में भारतीयों को सरकारी नौकरियों में समान अवसर प्रदान करने की बात कही गई थी और कहां नियमों में यह कर दिया गया कि सिविल सर्विस की प्रवेश-परीक्षा विलायत ही में होगी! सन् १८३३ में ईस्ट इंडिआ कंपनी के कोर्ट आफ़ डाइरेक्टर्स ने गवर्नर-जनरल को लिखा था कि अब भारत में कोई शासक जाति न रह जायगी, और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए नियम बने ऐसे अनुदार! दादाभाई नौरोजी के प्रबल आंदोलन के फल-स्वरूप सन् १८७० में एक ऐक्ट इस आशय का पास हुआ कि एक सीमित संख्या में कुछ भारतीयों को नामज़द कर

के आई० सी० एस० में नियुक्त कर दिया जायगा। इस ऐक्ट के अनुसार नियम सन् १८७८ में जा कर बन पाए और वास्तव में बहुत ही कम भारतीयों की नियुक्ति हो पाई। ये लोग स्टेट्यूटरी सिविल सर्विस वाले कहलाते थे। सन् १८८६-८८ के पब्लिक सर्विस कमीशन की सिफ़ारिशों के फल-स्वरूप स्टेट्यूटरी सिविल सर्विस का अंत कर दिया गया और उस के स्थान पर भारतवासियों के लिए प्राविंशियल सिविल सर्विस (डिप्टी कलक्टरी) की आयोजना हुई। आई० सी० एस० की परीक्षा में कहने के लिए तो किसी प्रकार का प्रतिबंध नहीं था, परंतु परीक्षा विलायत में होने के कारण बहुत कम भारतीय युवक उस में सम्मिलित हो सकते थे। फिर भी थोड़े-बहुत जा ही पहुँचते थे। आई० सी० एस० में प्रवेश पानेवाले सज्जनों में सब से पहले सज्जन श्रीदेवेंद्रनाथ के पुत्र तथा कवि रवींद्रनाथ के भाई मि० सत्येंद्रनाथ ठाकुर थे। उन के बाद वालों में मि० रमेशचंद्र दत्त, मि० सुरेंद्रनाथ बनर्जी और सर कृष्ण गोविंद गुप्त थे। परीक्षा में असफल होनेवालों में मि० मनमोहन घोष का नाम उल्लेखनीय है। लेकिन चंद भारतीयों ही की सफलता से उदार ब्रिटिश सरकार ऐसी विचलित हो गई कि यह नियम बना दिया गया कि २१ वर्ष तक की नहीं, बल्कि १९ वर्ष तक की अवस्था वाले व्यक्ति ही परीक्षा में सम्मिलित हो सकेंगे। इस नए नियम के कारण भारतीयों के लिए सफलता प्राप्त कर सकना अत्यंत कठिन हो गया। लार्ड लिटन (वायसराय) ने भारत-मंत्री को एक पत्र में लिखा था कि हम ने भारतीयों के हृदय में आशाएं उत्पन्न कर के उन्हें भंग किया है और यह ईमानदारी का तरीक़ा नहीं है।

लालमोहन घोष

वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट के पास होने और आई० सी० एस० की परीक्षा के नियमों में अवस्था-संबंधी परिवर्तन होने पर कलकत्ता के इंडिअन असोसिएशन ने मि०

लालमोहन घोष को इन दोनों के विरुद्ध आंदोलन करने के लिए इंगलैंड भेजा। उस समय उन की अवस्था केवल तीस वर्ष की थी। इस तीस वर्ष के अनुभवहीन युवक ने इंगलैंड में सब से पहला भाषण जिस सभा में किया, उस के सभापति स्वयं जॉन ब्राइट थे—वही जॉन ब्राइट जिन की बावत कहा जाता था कि अगर वह न होते तो ग्लैडस्टोन इंगलैंड के सब से बड़े वक्ता होते। उन्हीं ब्राइट पर लालमोहन घोष के भाषण का ऐसा प्रभाव पड़ा कि जब वे सभापति की हैसियत से बोलने के लिए खड़े हुए तो उन्हों ने कहा कि "अभी हम ने जो महान वक्तृता सुनी है उस के प्रभाव को मैं अपने निर्बल शब्दों द्वारा बिगाड़ना नहीं चाहता।" आंदोलन के परिणाम-स्वरूप पार्लामेंट में बहस हुई जिस में ग्लैडस्टोन ने कहा कि वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट ब्रिटिश सरकार के लिए कलंक की बात है। जब ग्लैडस्टोन प्रधान मंत्री हुए और लार्ड रिपन वायसराय, तब यह ऐक्ट रद्द कर दिया गया। बाद को आई० सी० एस० की परीक्षा-संबंधी उम्र की क़ैद भी ऊँची कर दी गई। लालमोहन घोष की वक्तृताओं की विलायत में ऐसी धूम रही कि जहां कहीं भी उन के भाषण की घोषणा की जाती थी, वहीं श्रोताओं की भारी भीड़ हो जाती थी। लार्ड रोज़बरी और जोज़फ़ चेंबरलेन (नेवाइल चेंबरलेन के पिता) उन के प्रशंसक बन गए और दो बार इंगलैंड की लिबरल पार्टी (उदार दल) ने उन्हें अपना उम्मीदवार बना कर पार्लामेंट की मेंबरी के लिए खड़ा किया। उन्हें सफलता नहीं मिली, परंतु उन की असफलता ने आगे की सफलता के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया और छः वर्ष बाद दादाभाई नौरोजी पार्लामेंट के सदस्य निर्वाचित हो गए। अपने जीवन के पिछले वर्षों में लालमोहन घोष सार्वजनिक जीवन में बहुत कम भाग लेते थे। सन् १९०३ में मद्रास में होनेवाले अधिवेशन के अतिरिक्त, जिस के वे अध्यक्ष थे, वे कांग्रेस के अधिवेशनों में सम्मिलित होने के लिए कलकत्ता से बाहर

नहीं जाते थे। मद्रास वाली कांग्रेस में उन्हों ने लार्ड कर्ज़न के हृदय-हीन शासन की बड़ी खरी आलोचना की थी। सन् १६०६ में कलकत्ता वाले अधिवेशन के अवसर पर वे कांग्रेस के मंच पर अंतिम वार दिखाई दिए। उक्त अधिवेशन के अध्यक्ष (दादाभाई नौरोजी) के प्रति धन्यवाद का प्रस्ताव पेश करते समय उन्हों ने बड़ा ओजस्वी भाषण किया और वैध आंदोलन के नवीन आलोचकों के तर्कों का खंडन करते हुए उस की उपयोगिता प्रमाणित की। जितने वक्ताओं के भाषण सुनने का अवसर मुझे प्राप्त हुआ है, उन में श्रीमती बेसेन्ट के साथ मि० लालमोहन घोष को सर्वोच्च स्थान प्रदान करने में मुझे तनिक भी संकोच नहीं। लोग उन्हें 'भारत के जॉन ब्राइट' कहते थे।

लार्ड रिपन

इंगलैंड की शासन-शक्ति लिबरल पार्टी के हाथों में आते ही ब्रिटिश सरकार की भारतीय नीति में उदार परिवर्तन हो गया। यहां मैं भारतीय राजनीति के नवयुवक विद्यार्थियों को यह परामर्श देना चाहता हूं कि अगर वे ब्रिटिश राजनीति तथा भारतीय राजनीति का तुलनात्मक अध्ययन न करेंगे, तो उन का अध्ययन अधूरा रह जायगा। इस विषय पर मि० रमेशचंद्र दत्त की एक छोटी-सी परंतु शिक्षाप्रद पुस्तक है—'इंगलैंड और भारत, १७८५—१८८५।' इस पुस्तक में मि० दत्त ने उस काल के प्रत्येक विभाग को अलग-अलग लेकर यह दिखाया है कि इंगलैंड तथा भारत में शासन-नीति की धाराएं किस प्रकार समानांतर धाराओं के रूप में वही हैं। सन् १८८० में लार्ड लिटन के स्थान पर लार्ड रिपन वायसराय के पद पर नियुक्त होकर भारत आए। वे निस्संदेह भारत के वायसरायों में सब से अधिक उदार थे। वे धार्मिक प्रवृत्ति के सज्जन थे और राजनीति में चालाकी से काम लेना नहीं जानते थे। उन का बर्क के इस सिद्धांत में दृढ़ विश्वास था कि "जो बात नैतिक दृष्टि से अनुचित है, वह राजनीतिक दृष्टि से कदापि उचित

नहीं हो सकती" और उन्हों ने अपने व्यवहार में इस सिद्धांत का सदा पालन किया। अपने शासन-काल के चार वर्षों में वे भारत के लिए जो कुछ कर सके वह भले ही बहुत अधिक न हो, परंतु उन की सफलता ही को उस उदाराशय राजनीतिज्ञ की मंशाओं और कोशिशों की कसौटी बना लेना न्याय की बात न होगी। उन्हें जिन कठिनाइयों के बीच काम करना पड़ा था, उन्हें भी स्मरण रखना होगा। उन्हों ने स्थानीय स्वराज्य की नींव रक्खी। आज हम कह सकते हैं कि यह बड़ी साधारण-सी बात थी; परंतु उन दिनों यह आसान बात न थी। उन्हें अपने कार्य में हर क़दम पर नौकरशाही के निष्क्रिय प्रतिरोध का सामना करना पड़ा, जो इस कला के व्यवहार में महात्मा गांधी से भी अधिक कुशल थी। किसी भी सुधार को व्यर्थ कर देने के कार्य में सुसंगठित और स्थायी सरकारी कर्मचारियों की अपेक्षा अधिक कुशल कोई दूसरा समुदाय नहीं है। ज़ाब्ता फ़ौजदारी से उन धाराओं को निकलवा देने के लिए, जिन में स्पष्टतः जातीय भेद-भाव दिखाई पड़ता था, लार्ड रिपन ने एक बिल तैयार कराया जो इलबर्ट बिल के नाम से प्रसिद्ध है। इलबर्ट साहब उस समय भारत सरकार के क़ानून-सदस्य थे। इस बिल के संबंध में लार्ड रिपन को भारत-स्थित अपने देशवासियों के घोरतम विरोध का सामना करना पड़ा और भारत-मंत्री से यथेष्ट समर्थन प्राप्त नहीं हुआ। लार्ड रिपन जिस प्रकार भारतीयों में लोकप्रिय थे, उसी प्रकार अपने देशवासियों के अनवरत तथा दुष्टतापूर्ण आक्षेपों के शिकार बने रहे। अपने शासन-काल की अवधि पूरी होने के एक वर्ष पूर्व ही वे निराशा के साथ यहां से चले गए। उन का शासन-काल उस संघर्ष का ज्वलंत उदाहरण है जो भारतीय जनता तथा भारत में अस्थायी रूप से स्थित अंग्रेज़ों के हितों, विचारों तथा उद्देश्यों के बीच सदा चलता रहा है, और जिस का बर्क ने और फिर मिल ने भी उल्लेख किया था। इस स्थिति पर बीस वर्ष पहले लार्ड

रिपन के एक पूर्वाधिकारी को भी दुःख प्रकट करना पड़ा था। सर जॉन लॉरेन्स ने, जो बाद को लार्ड लॉरेन्स हो गए थे, एक पत्र में लिखा था :—

भारत सरकार के लिए इन मामलों में न्याय कर सकना अत्यंत कठिन है। अगर भारतवासियों की सहायता के लिए कुछ किया जाता है या करने की कोशिश भी की जाती है, तो (भारत-स्थित अंग्रेज़ों में) चारों ओर हल्ला मच जाता है जिस की गूँज विलायत में भी भर जाती है और वहां से उन्हें सहानुभूति तथा समर्थन भी मिल जाते हैं। कभी-कभी मैं बड़े चक्कर में पड़ जाता हूं कि क्या करूं। कहने को तो सभी न्याय और नरमी और इसी तरह की अच्छी बातों के पक्ष में हैं परंतु ज्यों ही इन सिद्धांतों को कार्य-रूप में परिणत करने के प्रयत्न से किसी के हितों पर आघात होता है त्यों ही उन का मत बदल जाता है।

लार्ड लिटन के अत्यंत प्रतिक्रियाशील शासन ने—इस संबंध में मतभेद है कि सब से अधिक अनुदार वायसराय लार्ड लिटन थे या लार्ड कर्ज़न—भारत के सार्वजनिक कार्यकर्ताओं में भय तथा निराशा की भावना भर दी थी। स्वयं दादाभाई नौरोजी, जो सदैव आशावादी रहे, राजनीतिक कार्य से अलग हो जाने की बात सोचने लगे थे। उन्हीं दिनों वे बड़ोदा के दीवान हुए थे; परंतु उन्हों ने इस पद को साल भर के अंदर ही छोड़ दिया। लार्ड रिपन के शासन ने देश में एक नवीन आशा का संचार किया और राजनीतिक आंदोलन को पहले से भी अधिक सक्रिय रूप में पुनर्जीवन प्रदान करने में सहायता दी। अप्रत्यक्ष रूप से इसी का एक परिणाम यह हुआ कि लार्ड रिपन के विलायत-गमन के एक वर्ष पश्चात् इंडिअन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हो गई।

राजनीति और सार्वजनिक जीवन

यहाँ पर सिपाही-विद्रोह तथा कांग्रेस की स्थापना के बीच के समय की राजनीति तथा सार्वजनिक जीवन की अवस्था का संक्षेप में दिग्दर्शन कर लेना अनुचित न होगा। सरकार की नीति कभी धीमे सुधार की ओर झुक जाती थी और कभी घोर प्रतिक्रिया की ओर। किस ओर, यह बहुत कुछ ब्रिटिश सरकार तथा ब्रिटिश पार्लामेंट की तत्कालीन प्रवृत्ति पर निर्भर करता था, क्योंकि भारत में तो तब तक सुसंगठित लोकमत का अस्तित्व ही नहीं था। लार्ड कैनिंग और लार्ड रिपन के बीच जो वायसराय हुए, जिनमें लार्ड लारेंस, लार्ड मेयो और लार्ड नार्थब्रुक थे, साधारणतः अच्छे थे। परंतु लार्ड लिटन भी थे, जिन्हों ने अपने पूर्वाधिकारियों के समय के अच्छे कामों को यथासंभव मिटा देने की कोशिश की। इस समय की अच्छी बातों में सब से बड़ी बात विश्वविद्यालयों की स्थापना थी। बुरी बातों की सूची काफ़ी लंबी है। शासन तथा न्याय का जो पृथक्करण पहले हो चुका था, उसे रद्द करके उन्हें फिर एक किया गया; देशी भाषाओं के समाचारपत्रों के लिए वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट पास किया गया; सीमा-प्रांत में आगे बढ़ने की नीति बरती गई जिस का आर्थिक परिणाम भारत के लिए अत्यंत भयानक हुआ; लोगों को हथियार रख सकने से रोकने के लिए अस्त्र-आईन जारी किया गया और भारतीयों को उच्च सरकारी नौकरियों में पहुँच सकने से रोकने के लिए बार-बार कोशिशें की गईं। लेकिन साथ ही दूसरी ओर कुछ उन्नतिशील कार्य भी हुए। जैसे, सन् १८६१ के कानून द्वारा केंद्रिय कौंसिल में ग़ैर-सरकारी सदस्यों को स्थान दिया गया और प्रांतीय कौंसिलों की स्थापना हुई; शिक्षा-प्रचार में लगातार उन्नति हुई; और स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं (म्यूनिसिपल और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों) की स्थापना हुई। यह सच है कि कौंसिलों के नामज़द किए

गए गैर-सरकारी सदस्य अधिकतर सरकारी रुख़ के मुताबिक़ ही काम करनेवाले व्यक्ति थे। एक मनोरंजक उदाहरण यहां दिया जाता है। जिन ग़ैर-सरकारी सदस्यों ने लार्ड लिटन के समय में वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट के पक्ष में अपने वोट दिए थे, उन्हीं ने लार्ड रिपन के समय में उसे रद्द करने के पक्ष में वोट दिए। परंतु सभी सदस्य इसी मनोवृत्ति के नहीं थे, क्योंकि उन में विश्वनाथ नारायण मांडलिक जैसे स्वतंत्र-चेता सदस्य भी थे। और बाद को, निर्वाचन की प्रथा का श्रीगणेश होने के बहुत पूर्व, प्रांतीय कौंसिलों में ऐसे-ऐसे नामज़द सदस्य भी थे, जैसे बंबई में नौरोजी, रानाडे, तैलंग, तैयबजी और मेहता, बंगाल में कृष्णदास पाल और राजा प्यारेमोहन मुकर्जी, मद्रास में सर एस० सुब्रह्मण्य ऐयर और संयुक्त-प्रांत में (जो उस समय उत्तरी-पश्चिमी प्रांत कहलाता था) पंडित अयोध्यानाथ। जिस समय मुक्त वाणिज्य के नाम पर लंकाशायर के वस्त्र पर से आयात-कर हटाया गया, उस समय मांडलिक कौंसिल के सदस्य थे। उन के विरोध का कोई परिणाम नहीं हुआ तो दूसरे दिन वह हाथ के कते-बुने देशी वस्त्र—जिसे अब खद्दर कहते हैं—की पोशाक पहन कर आए और उन्हों ने स्पष्टतः कहा कि ऐसा मैं ने राजनीतिक प्रतिवाद-स्वरूप किया है। मांडलिक अपनी भावनाओं को छिपाना नहीं जानते थे। वे जिस प्रकार क़ानूनदां के रूप में विख्यात थे, उसी प्रकार स्वतंत्रचेता के रूप में। वह जो कुछ भी करना चाहते थे, कर डालते थे, और फिर उस के कारण की निर्भीकतापूर्वक घोषणा कर देते थे। परंतु इस प्रकार के थोड़े-से उदाहरणों से यह न समझना चाहिए कि नामज़दगी कोई अच्छी प्रथा है। इसी प्रकार अगर चुनाव में कभी-कभी अयोग्य तथा अवांछनीय व्यक्ति सफलता प्राप्त कर लेते हैं तो इस से निर्वाचन प्रथा बुरी नहीं कही जा सकती। हमारे देशवासियों ने इस काल में बंबई और बंगाल में विशेष कर और अन्य प्रांतों में किसी हद तक

सुसंगठित सार्वजनिक जीवन की नींव अच्छी तरह रख दी। सब से बड़े नेता दादाभाई नौरोजी थे और उन के नेतृत्व में बढ़ने वालों में मुख्य थे—महादेव गोविंद रानाडे और फ़ीरोज़शाह मेहता। उन से प्रभावित होनेवालों में बदरुद्दीन तैयबजी, उमेशचंद्र बनर्जी, मनमोहन घोष और रमेशचंद्र दत्त भी थे। बंगाल में सब से अधिक प्रभावशाली व्यक्ति उस समय कृष्णदास पाल थे जिन के 'हिंदू पेट्रियट' का बड़ा प्रभाव था। प्रांतीय राजनीतिक संस्थाएं दृढ़ आधारों पर स्थापित हो चुकी थीं और उस संयुक्त राष्ट्रीय प्रयत्न के लिए मार्ग प्रशस्त हो चुका था जिस का कांग्रेस की स्थापना से प्रारंभ होता है।

द्वितीय परिच्छेद

कांग्रेस के प्रथम बीस वर्ष

(१८८५—१९०५)

राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए राष्ट्रीय संगठन का विचार अनेक प्रमुख व्यक्तियों के मन में उठा था और सन् १८८५ में वह कार्य-रूप में परिणत हो गया। पहले इस राष्ट्रीय संस्था के लिए 'इंडिअन नेशनल कान्फ़रेंस' नाम सोचा गया था, और पहला अधिवेशन पूना में होने वाला था। परंतु पूना में हैज़े का प्रकोप हो जाने के कारण कांग्रेस का पहला अधिवेशन बंबई नगर के गोकुलदास तेजपाल हाई स्कूल में २८ दिसंबर, १८८५ को हुआ। यह थोड़े-से चुने हुए लोगों की सभा थी। सभापति थे, मि० उमेशचंद्र बनर्जी और जिन लोगों ने कार्यवाही में भाग लिया उन में से कुछ उल्लेखनीय व्यक्तियों के नाम इस प्रकार हैं—बंबई से दादाभाई नौरोजी, फ़ीरोज़शाह मेहता, काशीनाथ त्र्यंबक तैलंग, झवेरीलाल याज्ञिक, दीनशा ईदुलजी वाछा, रहीमतउल्ला सैयानी, गोपाल गणेश आगरकर और नारायण गणेश चंदावरकर; मद्रास से सर एस० सुब्रह्मण्य ऐयर, दीवान बहादुर रघुनाथराव, पी० आनंद चार्लू, जी० सुब्रह्मण्य ऐयर, रंगैया

नायडू और वीरराघवाचार्य , और कलकत्ता से बाबू नरेंद्रनाथ सेन। लखनऊ से एक २२ वर्ष के नवयुवक ने बंबई की यात्रा की थी, जिसे उस समय कोई न जानता था। बाबू गंगाप्रसाद वर्मा अपने जीवन के शेष २८ वर्ष कांग्रेस तथा देश के महान भक्त रहे। चूँकि मैं यह भाषण आंध्र श्रोताओं के सम्मुख दे रहा हूं, इस लिए यह अनुचित न होगा अगर मैं यह कह दूं कि कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में आंध्र देश के प्रतिनिधि-स्वरूप कोयमबिट्टूर के मि० नरसिंहलू नायडू, बिलारी के राव बहादुर सभापति मुदलयार, गूटी के दीवान बहादुर केशव पिल्लई और मसूलीपट्टन के राव साहब सिंहराज वेंकटसुब्बारायडू पंतूलू गारू उपस्थित थे। अंतिम सज्जन के संबंध में मि० बदरुद्दीन तैयबजी ने कहा था कि मैं उन के नाम का उच्चारण करने का प्रयत्न करने का साहस नहीं कर सकता। कांग्रेस के जन्म-दाताओं में से अब एकमात्र सर दीनशा वाछा ही जीवित हैं। उन्हों ने सब कार्यों से अवकाश ग्रहण कर लिया है; परंतु ६२ वर्ष की अवस्था में भी वे काफ़ी स्वस्थ तथा प्रसन्न हैं।[1] जिन लोगों ने कांग्रेस की स्थापना में सहायता प्रदान की थी, उन में सब से मुख्य ऐलन ओक्टेवियन ह्यूम थे। मि० ह्यूम आगे चल कर छः वर्ष तक कांग्रेस के प्राण तथा सर्वस्व बने रहे और कांग्रेस के पिता कहलाते थे। वे कांग्रेस के मंत्री बने, उस के लिए सारे देश का भ्रमण करते रहे और कांग्रेस का प्रचार करने तथा उसे लोकप्रिय बनाने के लिए जो कुछ कोई भी कर सकता था, वह सब उन्हों ने किया। कांग्रेस के कार्य में उन्हें जो कुछ भी व्यय करना पड़ता था सब अपनी ही जेब से करते थे। वे बड़े क्रियाशील व्यक्ति थे और

---

[1] इस बीच सर दीनशा वाछा भी अपने बहुसंख्यक मित्रों तथा प्रशंसकों को, जिन में भारतीय तथा अंग्रेज़ दोनों ही थे, दुःखी बना कर परलोक यात्रा कर चुके हैं।

सुस्त से सुस्त आदमी भी उन के संसर्ग में आ कर सक्रिय बन जाता था। पहली कांग्रेस के लिए प्रस्ताव तैयार करने को एलफिन्स्टन कालेज के प्रिंसिपल वर्ड्सवर्थ के निवास-स्थान पर एक प्राइवेट सभा हुई थी, जिस में सर विलिअम वैडरबर्न, मि० रानाडे और राय बहादुर लाला बैजनाथ सरीखे सरकारी कर्मचारी भी उपस्थित थे। यह इस बात का उदाहरण है कि उस समय सरकारी कर्मचारियों को कितनी स्वतंत्रता प्राप्त थी। मि० रानाडे ने तो कांग्रेस की खुली कार्यवाही तक में भाग लिया था। सरकारी कर्मचारियों की स्वतंत्रता का एक और दृष्टांत यह है कि मि० रानाडे ने, जो बंबई की कौंसिल के नामज़द सरकारी सदस्य थे, दो-एक बार निर्वाचित ग़ैर-सरकारी सदस्यों की भाँति सवालात किए थे और बंगाल कौंसिल में सर हेनरी काटन और मि० रमेश दत्त ने कम से कम एक बार तो अवश्य ही सरकार के विरुद्ध निर्वाचित सदस्यों की ओर वोट दिया था, और हेनरी कॉटन बंगाल सरकार के चीफ़ सेक्रेटरी थे। लेकिन सन् १८६० में इसी प्रश्न को लेकर तूंबी में तूफ़ान वाली बात हो गई।

कांग्रेस और सरकारी कर्मचारी

सन् १८६० की कांग्रेस कलकत्ता में हुई थी। अन्य वर्षों की भाँति उस वर्ष भी वायसराय के निजी कर्मचारियों को निमंत्रण-पत्र भेजे गए थे, परंतु उन्हें यह कह कर लौटा दिया गया कि सरकारी कर्मचारी किसी राजनीतिक सभा में नहीं जा सकते। लेकिन यह ग़लतफ़हमी शीघ्र ही दूर हो गई और इस तरह की कठिनाई फिर नहीं खड़ी की गई। इस के पहले जब सन् १८८७ में कांग्रेस मद्रास में हुई थी, तो वहां के गवर्नर लार्ड कोनेमारा ने गवर्नमेंट हाउस से चीज़ें देकर स्वागतकारिणी समिति की सहायता की थी। लेकिन सन् १८८८ में जब कांग्रेस इलाहाबाद में होने जा रही थी तो संयुक्त प्रांत के तत्कालीन लेफ़्टिनेंट-गवर्नर सर ऑकलैंड कॉलविन

ने यह निश्चय कर लिया कि वे उसे इलाहाबाद में न होने देंगे और उन्हों ने स्वागतकारिणी समिति के लिए कांग्रेस कैंप बनाने के लिए स्थान पा सकना अत्यंत कठिन कर दिया। उस साल, और फिर सन् १८६२ में भी, कांग्रेस लाउदर कैसिल के विस्तृत घेरे में हुई, जो अब दरभंगा कैसिल कहलाता है और जिसे कि कांग्रेस के परम मित्र, तत्कालीन दरभंगा-नरेश ने ख़रीद लिया था। जब सन् १८६१ में कांग्रेस नागपुर में होने वाली थी तो मध्य प्रांत के चीफ़ कमिश्नर मि० एन्टानी मैकडॉनल ने (जो बाद को सर और फिर लार्ड हो गए थे) सार्वजनिक रूप से यह घोषणा कर दी कि कोई सरकारी कर्मचारी कांग्रेस में शरीक होने की वजह से न तो उन की नज़र में गिरेगा और न शरीक न होने के कारण उन की नज़र में उस की प्रतिष्ठा बढ़ जायगी। इस के आठ वर्ष बाद जब सन् १८६६ में लखनऊ में कांग्रेस हो रही थी तो वहां के आवश्यकता से अधिक उत्साही डिप्टी कमिश्नर ने स्वागत-समिति के कार्य में कठिनाइयां उपस्थित कीं, परंतु लेफ़्टिनेंट-गवर्नर सर एन्टानी मैकडॉनल ने उन्हें रोक दिया और स्वागत-समिति को सुविधाएं प्रदान कर दीं। सन् १६१४ में तो मद्रास के गवर्नर लार्ड पेंटलैंड स्वयं कांग्रेस में उपस्थित हुए और दो वर्ष बाद लखनऊ में होनेवाले अधिवेशन में संयुक्त प्रांत के लाट सर जेम्स (अब लार्ड) मेस्टन तो कांग्रेस में उपस्थित ही नहीं हुए, बल्कि उस में भाषण भी कर गए। सन् १८८८ में इलाहाबाद में होनेवाली कांग्रेस की कठिनाइयों का उल्लेख किया जा चुका है, उसी वर्ष कलकत्ता में भाषण करते हुए तत्कालीन वायसराय लार्ड डफ़रिन ने भी कांग्रेस के विरुद्ध बड़ा विष उगला था। फिर भी उस वर्ष का अधिवेशन बड़ा मनोरंजक तथा सफल रहा। मैं भारतीय राजनीति के युवक विद्यार्थियों से सिफारिश करूँगा कि वे उस समय के इस विषय के वाद-विवाद का अवलोकन करें जिस में सरकारी ओर से लार्ड डफ़रिन तथा सर ऑकलैंड

कॉलविन और कांग्रेस की ओर से मि० ह्यूम, मि० नार्टन, मि० तैलंग जैसे कुशल वक्ताओं ने भाग लिया था।

पहली कांग्रेस

पहली कांग्रेस ने कुछ ऐसे महत्वपूर्ण विषयों की ओर ध्यान दिया जो आज भी भारतीय राजनीति के सजीव प्रश्न बने हुए हैं। पहला प्रस्ताव इस आशय का था कि भारतीय शासन की जाँच करने के लिए एक रॉयल कमीशन की नियुक्ति होनी चाहिए और उस के प्रस्तावक थे, मद्रास के सार्वजनिक जीवन के निर्माता, 'हिंदू' के संपादक मिस्टर जी० सुब्रह्मण्य ऐयर। दो अन्य प्रस्तावों के द्वारा यह कहा गया कि लेजिस्लेटिव कौंसिलों का सुधार और विस्तार होना चाहिए तथा इंडिअन सिविल सर्विस की प्रवेश-परीक्षा इंगलैंड तथा भारत में साथ-साथ होनी चाहिए। सर फ़ीरोज़-शाह मेहता ने यह प्रस्ताव पेश किया कि उत्तरी ब्रह्मदेश में ब्रिटिश शासन न स्थापित किया जाय, और अगर किया ही जाय तो ब्रह्मदेश को न तो भारत का अंग बनाया जाय और न उस पर भारतीय धन व्यय किया जाय बल्कि उसे ब्रिटेन अपना उपनिवेश बना ले। लेकिन बावजूद कांग्रेस के प्रस्ताव के, ब्रह्मदेश का आर्थिक भार भारत पर लादा गया। तीन बार भारतीय जनता को युद्ध का भार सहन करना पड़ा और वर्षों तक जब बरमा में सरकारी आमदनी काफ़ी नहीं होती थी, उस की कमी भारत से पूरी की गई। और अब बरमा को भारत से अलग किया जा रहा है, बिना भारत की यथेष्ट क्षति-पूर्ति किए और बिना इस बात का संतोषजनक आश्वासन दिए कि जो भारतवासी वहां बस गए हैं उन के साथ न्याय तथा समानता का व्यवहार किया जायगा।[1] सच बात तो यह है कि जिस समय बरमा भारत का ही एक प्रांत था और सर हारकोर्ट बटलर उस के लेफ़्टिनेंट-गवर्नर थे, तभी भारत-सरकार ने उन्हें आर्थिक तथा अन्य बातों के संबंध में ऐसे क़ानून बना

[1] इस बीच बरमा का भारत से पृथक्करण हो चुका है।

लेने दिया था जैसे बरमा भारत का प्रांत न होकर कोई दूर का देश हो।

दूसरी कांग्रेस

कांग्रेस का दूसरा अधिवेशन सन् १८८६ में दादाभाई नौरोजी की अध्यक्षता में कलकत्ता में हुआ। पहले अधिवेशन में जो लोग सम्मिलित हुए थे उन्हें वैसे ही प्रतिनिधि मान लिया गया था, परंतु अब की बार प्रतिनिधियों का सार्वजनिक संस्थाओं तथा सभाओं द्वारा निर्वाचन हुआ था। पहले अधिवेशन में उन की संख्या ७० के लगभग थी और अब की बार ४३६ थी। अधिवेशन दो दिन तो ब्रिटिश इंडिअन असोसिएशन के हाल में हुआ और बाक़ी दो दिन, उस के नाकाफ़ी साबित होने की वजह से, टाउन हाल में। इस वर्ष जिन नए सज्जनों ने कांग्रेस में भाग लिया उन में राजा राजेंद्रलाल मित्र, सुरेंद्रनाथ बनर्जी और पंडित मदनमोहन मालवीय के नाम उल्लेखनीय हैं। राजेंद्रलाल मित्र स्वागतकारिणी समिति के अध्यक्ष भी बनाए गए। उन का और सर रामकृष्ण भंडारकर का आधुनिक भारत के प्राच्यविद्या-विशारदों में सब से ऊँचा स्थान माना जाता है।

तीसरी कांग्रेस

कांग्रेस की शक्ति लगातार बढ़ती गई। सन् १८८७ में जब मद्रास में तीसरा अधिवेशन हुआ तो प्रतिनिधियों की संख्या ६०७ थी। इस बार के अध्यक्ष थे मि० बदरुद्दीन तैयबजी (जो बाद को बंबई हाईकोर्ट के जज हुए) और स्वागताध्यक्ष थे राजा सर टी० माधवराव। तैयबजी कांग्रेस के सर्वप्रथम मुसलिम अध्यक्ष थे। राजा माधवराव आधुनिक भारत के सब से कुशल शासक माने जाते हैं। अपने भाषण में उन्हों ने कहा था कि "कांग्रेस की स्थापना ब्रिटिश शासन की सब से महान विजय तथा ब्रिटिश जाति के लिए यश-रूपी राजमुकुट है।" इस बार जो नए सज्जन कांग्रेस में सम्मिलित हुए उन में तैयबजी और माधवराव के अतिरिक्त मि० अर्डले नॉर्टन, पं० बिशननरायन दर, सर शंकरन

नायर, मि० जॉन ऐडम, मि० सलेम रामस्वामी मुदालिर और मि० (बाद को सर) वी० एन० शर्मा के नाम उल्लेखनीय हैं। जिन सज्जनों ने कांग्रेस के ख़र्चे के लिए धन दिया था और जो दर्शक की हैसियत से उस में शरीक हुए थे, उन में विजयानगरम् के महाराजा सर आनंद गजपतिराज भी थे, जिन का नाम आंध्र देश में आज भी इतना सम्माननीय है। वे धैर्य तथा दान की तो साकार मूर्ति थे। यह बात आज बहुतों को न मालूम होगी कि विजयानगरम् के हम कई लोगों के वे बड़े सहायक थे। सुरेंद्रनाथ बनर्जी और जी० सुब्रह्मण्य ऐयर के वे बड़े मित्र थे और इंडिअन असोसिएशन का भवन उन्हीं ने दान किया था। मैं इस बात का उल्लेख कर चुका हूं कि मि० अर्डले नॉर्टन १८८७ में कांग्रेस में सम्मिलित हो गए थे। कांग्रेस के पुराने वर्षों के महत्वपूर्ण भाषणों से अवतरण देकर मैं अपने भाषणों का आकार नहीं बढ़ाना चाहता, परंतु मि० नॉर्टन के एक भाषण से एक अवतरण दिए बिना भी नहीं रह सकता। आजकल के ज़माने में राज-विद्रोह के मुक़दमे चलना एक मामूली सी बात हो गई है। मि० नॉर्टन पर भी उन के किसी अंग्रेज़ भाई ने "छिपे राज-विद्रोही" होने का आक्षेप किया था। इस का उन्हों ने मद्रास की कांग्रेस में जो ज़ोरदार जवाब दिया था, उस का एक अंश इस प्रकार था :—

सज्जनो, अगर अन्याय का विरोध करना राजविद्रोह हो, अगर इस बात के लिए कोशिश करना कि भारतवासियों को अपने देश के शासन में समुचित भाग मिलना चाहिए राजविद्रोह हो, अगर अत्याचार का विरोध करना, दमन के विरुद्ध आवाज़ उठाना और अन्याय के विरुद्ध विद्रोह करना राजविद्रोह हो, अगर यह मांग पेश करना कि किसी को दंड मिल सकने के पहले उस के मामले की सुनवाई होनी चाहिए राजविद्रोह हो, अगर व्यक्तिगत स्वतंत्रता

का पक्ष समर्थन करना और क्रमशः परंतु लगातार आगे बढ़ते रहने का अधिकार चाहना राजविद्रोह हो, तो मुझे राजविद्रोही कहलाने में बड़ी प्रसन्नता है। और जब मैं देखता हूं कि मेरे चारों ओर राज-विद्रोहियों का ऐसा प्रतिष्ठित समूह मौजूद है तो मेरी प्रसन्नता दूनी-तिगुनी बढ़ जाती है।

चौथी कांग्रेस

सन् १८८८ में होने वाली कांग्रेस को पिछले अधिवेशनों की अपेक्षा अधिक विरोध का सामना करना पड़ा। संयुक्त प्रांत के लेफ़्टिनेंट-गवर्नर और सर सैयद अहमद उस के प्रमुख विरोधी थे। सर सैयद ने मुसलमानों को निश्चित रूप से कांग्रेस से अलग रहने की सलाह दी और उन की 'रक्षा' के लिए ऐंग्लो-मुसलिम डिफ़ेंस असोसिएशन की स्थापना कर दी। परंतु विरोध का, विरोधियों ने जैसा सोचा था, उस से उलटा असर हुआ और इस बार का अधिवेशन पहले तीनों अधिवेशनों की अपेक्षा अधिक सफल रहा। पंडित अयोध्यानाथ—संयुक्तप्रांत के सिंह—स्वागतसमिति के अध्यक्ष थे और उन के ज़ोरदार भाषणों से जनता में जागृति उत्पन्न हो गई। उन का दृढ़ निश्चय था कि जैसे भी हो, कांग्रेस होगी ज़रूर और अगर आवश्यकता होगी तो वे उस का सारा ख़र्चा स्वयं सहन करेंगे। (तीन वर्ष बाद केवल ५१ वर्ष की अवस्था में उन की मृत्यु हो गई जो एक छोटी राष्ट्रीय दुर्घटना नहीं थी।) इस बार प्रतिनिधियों की संख्या १२४८ तक पहुँच गई। क़रीब-क़रीब सभी प्रमुख नेता उपस्थित थे और उन्हों ने वाद-विवाद में भाग लिया। कांग्रेस के इस अधिवेशन की कार्यवाही की रिपोर्ट राजनीति के विद्यार्थी के लिए अध्ययन की वस्तु है। कलकत्ता के एक प्रमुख व्यवसायी मि० जार्ज यूल इस वर्ष अध्यक्ष थे, जो कि कांग्रेस के अध्यक्ष पद को सुशोभित करने वाले प्रथम अंग्रेज़ सज्जन थे। अपने महत्वपूर्ण भाषण में, जो आज भी पढ़ने लायक़ है, उन्हों ने कहा था

कि कांग्रेस जैसे आंदोलनों को अपने जीवन-काल में कई मंज़िलों से हो कर गुज़रना पड़ता है :—

पहली मंज़िल तो मज़ाक उड़ाए जाने की होती है। जब आंदोलन कुछ ज़ोर पकड़ लेता है तो फिर लोग उसे बुरा-भला कहना शुरू करते हैं। इस के बाद उस के साथ कुछ रिआयतें की जाती हैं और कुछ उस के उद्देश्यों के प्रति ग़लतफ़हमी फैलाई जाती है और साथ ही यह चेतावनी दी जाती है कि अज्ञात प्रदेश में लंबी डग रखना खतरे का काम होगा। आख़िरी मंज़िल यह होती है कि उस के उद्देश्य को मोटे तौर पर स्वीकार कर लिया जाता है और साथ ही इस बात पर कुछ आश्चर्य भी प्रकट किया जाता है कि उसे पहले ही क्यों नहीं स्वीकार कर लिया गया।

पाँचवीं कांग्रेस

अगले वर्ष की कांग्रेस और भी बड़ी थी। वह बंबई में हुई और उस के अध्यक्ष थे, सर विलिअम वैडरबर्न। उपस्थित सज्जनों में चार्ल्स ब्रैडला भी थे। संयोग से सन् १८८९ में होनेवाली इस कांग्रेस के प्रतिनिधियों की संख्या भी ठीक १८८९ ही थी। मि० गोखले इस वर्ष कांग्रेस में प्रथम बार सम्मिलित हुए थे और उन्हों ने जो भाषण किया उस के आधार पर यह भविष्यवाणी भी की जाने लगी कि वे आगे चल कर कांग्रेस के अध्यक्ष होंगे। जब मि० एस्क्विथ ने पार्लामेंट में अपना प्रथम भाषण किया था, तभी राजनीतिक भविष्यवक्ताओं ने कह दिया था कि ये इंगलैंड के भावी प्रधान-मंत्री हैं। गोखले के प्रथम भाषण की सफलता भी ऐसी ही थी। कांग्रेस का अधिवेशन समाप्त होने पर देश के सभी भागों की ओर से मि० ब्रैडला को अभिनंदन-पत्र भेंट किए गए। उन का उत्तर देते हुए मि० ब्रैडला ने अपने उल्लेखनीय भाषण में कहा :—"अगर मैं जनता की नहीं तो किस की सेवा के लिए कार्य करूँगा? साधारण जनता ही में मेरा

जन्म हुआ, उसी का मैं विश्वासपात्र रहा और उसी का रह कर मैं मरूँगा। मैं केवल जनता को जानता हूं, देश या जाति का कोई बंधन मैं नहीं मानता।"

अगले अधिवेशन

उन दिनों कांग्रेस के सम्मुख प्रति वर्ष सब से मुख्य विषय यह रहता था कि लैजिस्लेटिव कौंसिलों का सुधार हो और उन के सदस्यों की संख्या में वृद्धि हो। जब सन् १८९२ में इंडिअन कौंसिल्स ऐक्ट पास हो गया तब प्रमुख स्थान इस प्रस्ताव को दिया जाने लगा कि आई० सी० एस० की परीक्षा इंगलैंड और भारत में साथ-साथ हो। सन् १८९३ में मि० हर्बर्ट पॉल द्वारा पेश किया गया इस आशय का प्रस्ताव पार्लीमेंट के हाउस आफ़ कामन्स में पास हो गया, परंतु ब्रिटिश सरकार तथा भारत सरकार ने मिल कर उस प्रस्ताव को निकम्मा कर दिया। १८९३ में लाहोर में दादाभाई नौरोजी दूसरी बार अध्यक्ष हुए। उस समय वे हाउस आफ़ कामन्स के सदस्य (एम० पी०) थे। वह पहले भारतीय एम० पी० थे। उन के बाद एक दूसरे भारतीय सज्जन सर मनचूरजी भावनगरी एम० पी० हुए, परंतु उन्हों ने भारत के राष्ट्रीय आंदोलन में सहयोग प्रदान नहीं किया। उन के बाद एक और भारतीय सज्जन एम० पी० हुए, मि० साकलतवाला। इस प्रकार तीनों ही भारतीय एम० पी० पारसी थे। इन के सिवा कोई चौथा भारतीय एम० पी० नहीं हुआ, यद्यपि मि० उमेशचंद्र बनर्जी और मि० लालमोहन घोष ने उस के लिए कोशिशें की थीं। हां, एक भारतीय सज्जन स्वर्गीय लार्ड सिनहा हाउस आफ़ लार्ड्स के सदस्य रहे थे। दादाभाई नौरोजी जिस समय बंबई में जहाज़ से उतरे तब से लेकर उन के फिर से जहाज़ में सवार होने के समय तक जिस किसी भी नगर में वे गए और जिस किसी भी स्टेशन पर उन की गाड़ी रुकी, वहीं उन का ऐसा स्वागत हुआ जो

उस समय तक तो अद्वितीय ही था। तेरह वर्ष बाद (सन् १९०६ में) जब वे कलकत्ता कांग्रेस के सभापति बन कर आए तब भी उन का ऐसा भारी स्वागत हुआ जैसा इस बीच किसी और का नहीं हुआ था।[1] सुरेंद्रनाथ बनर्जी ने कहा था कि "बादशाह और महाराज इस प्रकार के स्वागत से ईर्ष्या कर सकते हैं, लेकिन उन्हें वह नसीब नहीं हो सकता।" सन् १९०५ तक कांग्रेस शांतिपूर्वक आगे बढ़ती गई। राजनीतिक महत्व का ऐसा कोई प्रश्न नहीं था जिस की ओर उस ने ध्यान न दिया हो और साल के साल वह विभिन्न विषयों पर जो प्रस्ताव पास करती थी वे उस के नेताओं की राजनीतिक बुद्धिमत्ता के प्रमाण थे।

इंडिअन कौंसिल्स ऐक्ट १८९२

सन् १८६१ के इंडिअन कौंसिल्स ऐक्ट के ३१ वर्ष बाद और कांग्रेस के छः वर्ष के अनवरत आंदोलन के फल-स्वरूप सन् १८९२ का इंडिअन कौंसिल्स ऐक्ट पास हुआ। इन छः वर्षों के बीच दो बार इंगलैंड को डेपुटेशन भी गए थे। इस ऐक्ट के परिणाम-स्वरूप जो परिवर्तन हुए वे आज तो तुच्छ रिआयतों जैसे ही दिखाई देंगे, लेकिन उस समय वे न तो क्षुद्र थे और न तुच्छ। कौंसिलों के सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई और यद्यपि निर्वाचन-प्रणाली सिद्धांत रूप से तो नहीं स्वीकार की गई, परंतु इस बात की व्यवस्था कर दी गई कि कुछ सदस्यों की नियुक्ति स्थानीय संस्थाओं, विश्वविद्यालयों तथा व्यापारियों की सभाओं की सिफारिशों के आधार पर की जायगी। सदस्यों को प्रश्न पूछने का भी अधिकार प्रदान कर दिया गया, यद्यपि प्रश्नों के साथ उप-प्रश्न पूछने का अधिकार नहीं दिया गया। कौंसिलों

---

[1] हाल के वर्षों में राजनीतिज्ञों का स्वागत सार्वजनिक जीवन की एक विशेषता बन गई है और महात्मा गांधी अपने देशवासियों के सर्वप्रिय नेता हो गए हैं।

को यह अधिकार दिया गया कि वे बजट पर बहस कर सकेंगी, परंतु किसी रक़म में कमी करने का प्रस्ताव नहीं कर सकेंगी। सदस्यों को प्रस्ताव पेश करने का अधिकार भी नहीं दिया गया। ऐक्ट के अनुसार बननेवाले नियम, जैसा कि प्रायः सदा ही होता रहा है, बड़े असंतोपजनक थे और उन के फल-स्वरूप आंदोलन भी हुआ। जिस समय ऐक्ट बिल के रूप में पार्लीमेंट के सम्मुख पेश था, उस समय प्रधान मंत्री (लार्ड सैलसबरी) तथा विरोधी दल के नेता (मि० ग्लैडस्टोन) दोनों ने यह आश्वासन दिया था कि कौंसिलों में जनता को वास्तविक प्रतिनिधित्व मिलेगा। परंतु नियम बनानेवालों ने इन आश्वासनों की पूरी उपेक्षा की। परंतु यद्यपि नई कौंसिलों के सदस्यों को लोकोपकारी कार्य कर सकने की बहुत ही सीमित सुविधाएं प्राप्त हुईं, फिर भी कई सदस्यों ने उन के द्वारा जनता की बड़ी सेवा की और कुछ ने असाधारण पार्लीमेंटरी (कौंसिलों के कार्य-संबंधी) योग्यता का भी परिचय दिया। सर्व-सम्मति से उन में सर फ़ीरोज़शाह मेहता और मि० गोखले के नाम प्रमुख हैं। कुछ अन्य उल्लेखनीय नाम इस प्रकार हैं:—सुरेंद्रनाथ बनर्जी और आनंदमोहन बोस बंगाल में, मि० विजयराघवाचार्य और मि० सुब्बाराव पंतूलू मद्रास में, सर चिमनलाल सीतलवाद और सर गोकुलदास पारिख बंबई में और पंडित मदनमोहन मालवीय संयुक्त प्रांत में। इन सज्जनों के प्रयत्न सदा सफलीभूत नहीं हुए, परंतु इसी लिए उन के महत्त्व को कम करना उचित न होगा। क्योंकि यह निश्चित है कि यदि उन में से अधिकांश ने अयोग्यता अथवा ग़ैर-ज़िम्मेदारी का परिचय दिया होता, या अगर उन्हों ने सदा देश-हित ही को अपना ध्येय न रक्खा होता, तो आगे के वर्षों में मिंटो-मार्ले कौंसिलों की स्थापना भी न हुई होती। जैसा कि कांग्रेस के पिता ने एक बार कहा था, सच्चे सार्वजनिक कार्यकर्ताओं के कार्यों का आधार यह भावना ही हो सकती है कि ईमानदारी के साथ और निःस्वार्थ भाव से किया गया कार्य कभी

निष्फल नहीं जाता।

लार्ड लैन्सडाउन

इस काल में जो वायसराय आए, उन्हें दुर्भाग्य से भारतीय आकांक्षाओं के प्रति सहानुभूति नहीं थी। लार्ड डफ़रिन के उत्तराधिकारी लार्ड लैन्सडाउन के समय में वह घटना हुई जो '२६ जून, १८९३ का अपराध' कहलाती थी। शिमला में लैजिस्लेटिव कौंसिल की बैठक की गई, जिस में भारतीय जनता का कोई भी प्रतिनिधि सदस्य उपस्थित नहीं था और एक दिन के अंदर वह क़ानून पास हो गया जिस के अनुसार टकसाल में चाँदी देकर सिक्के बनवा सकने की प्रथा का अंत कर दिया गया। हमारी मुद्रा तथा विनिमय-संबंधी कठिनाइयों का श्री-गणेश इसी समय के आस-पास से होता है, जिन का अभी तक अंत नहीं हो पाया है। आगे चल कर भी कब अंत होगा, या होगा भी या नहीं, कौन जाने? क्योंकि जो नया विधान जारी होने जा रहा है उस में भी केंद्रीय सरकार बिना गवर्नर-जनरल की अनुमति के इस संबंध में कुछ न कर सकेगी और वे भारत-मंत्री की इच्छा के प्रतिकूल नहीं जा सकेंगे।

वेतन-वृद्धि

उसी दिन यह भी निश्चय हुआ कि विनिमय की दर गिर जाने के कारण अंग्रेज़ कर्मचारियों को जो हानि हुई हो उस की क्षतिपूर्ति के लिए उन्हें विशेष भत्ता दिया जाय। यह निश्चय जैसा स्वार्थपूर्ण था वैसा ही अनुचित। इस भत्ते का तथा और भी अनेक भत्तों का सीधा-सादा मतलब यही था कि निर्धन जनता का भार बढ़ा कर मोटे-मोटे वेतन पानेवालों के वेतनों में और भी वृद्धि कर दी जाय। १८९४ की कांग्रेस में भाषण करते हुए, पंजाब के एक देशभक्त सज्जन स्वर्गीय लाला मुरलीधर ने कहा था:—

ईसाइयों की धर्म-पुस्तक में कहा गया है कि ऊँट के लिए सुई के छेद से निकल सकना उतना कठिन नहीं है जितना कठिन धनी

आदमी के लिए स्वर्ग में प्रवेश प्राप्त कर सकना है। अगर इस बात को अक्षरशः सत्य मान लिया जाय तो मैं दावे के साथ कहूँगा कि भारत से अधिक भाग्यवान कोई अन्य देश नहीं है और भारतीयों की अपेक्षा अधिक भाग्यवान कोई अन्य जाति नहीं है। हमें इंगलैंड के लोगों पर तरस खाना चाहिए कि उन्होंने इतना धन वैभव जमा कर लिया है। हमें इस बात के लिए ईश्वर को धन्यवाद देना चाहिए कि हमारे लिए स्वर्ग के द्वार खुले हुए हैं जब कि वे यूरोप-निवासियों के लिए बंद हैं। क्या अधिकारियों ने अपने लिए क्षतिपूर्ति का भत्ता लेकर और हमारे लिए स्वर्ग के द्वार खुलवा कर महान त्याग नहीं किया है?

लार्ड एलगिन

लार्ड लैन्सडाउन के उत्तराधिकारी लार्ड एलगिन भी एक असफल वायसराय रहे। सन् १८९६ में आप जबलपुर पधारे। उस समय मध्य प्रांत में ऐसा भीषण अकाल पड़ा हुआ था कि बाद को प्रकाशित होनेवाली अकाल कमीशन की रिपोर्ट के शब्दों में "लोग मक्खियों की तरह मर रहे थे"। लेकिन आप की सूझ देखिए कि आप ने उसी समय मध्यप्रांत की जनता को उस की समृद्धि पर बधाई दी! उन के शासन-काल में सन् १८९५ और १८९७ में भारतीय सीमा के उस पार फ़ौजी कार्यवाही की गई, जिस में भारत की भारी आर्थिक हानि हुई। १८९७ में उन्हों ने राजनीतिक दमन की मंज़ूरी दी और १८९८ में वे क़ानून पास कराए जिन का अभी आगे चल कर ज़िक्र किया जायगा। और इस सब के बाद भारत से चलते-चलाते उन्हों ने शिमला में सरकारी अफ़सरों के क्लब में भाषण करते हुए निर्लज्जतापूर्वक घोषणा की कि "भारत तलवार के ज़ोर से विजय किया गया था और तलवार ही के ज़ोर से उस पर शासन किया जायगा।" आगे चल कर लार्ड एलगिन ब्रिटेन के उपनिवेश-मंत्री हुए और तब भी उन्हों ने ऐसी बातों के लिए मंज़ूरी दी जिन के लिए हमारे दक्षिण अफ़्रीका प्रवासी देशवासी उन के कृतज्ञ नहीं हो सकते थे। वे भले आदमी थे

और ईमानदार आदमी थे, परंतु स्पष्टतः अयोग्य व्यक्ति थे। मि० आनंद चार्लू से उन की बड़ी मित्रता थी और एक बार उन से उन्हों ने स्वीकार किया था कि मैं भारत के संबंध में कुछ भी नहीं जानता और ऐसी हालत में अगर मैं अपने परामर्शदाताओं की सलाह के मुताबिक़ काम न करूं तो यह मेरी बेवक़ूफ़ी होगी।

सन् १८९६ के पिछले भाग में प्लेग का प्रथम बार प्रकोप हुआ और अकाल भी पड़ा। अगला वर्ष भारत के लिए बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण था। उस साल अकाल, प्लेग, भूकंप, युद्ध और दमन सभी का दौरदौरा रहा। प्लेग को रोकने के लिए अधिकारियों ने जो कार्यवाही की, उस की मंशा निस्संदेह बड़ी अच्छी थी, लेकिन एक तो लोग उन बातों के पहले से आदी नहीं थे और दूसरे उन्हें इतनी कड़ाई के साथ किया गया कि लोगों को बड़ी दिक़्क़त और परेशानी उठानी पड़ी। परिणाम यह हुआ कि कई स्थानों में शांति भंग हो गई। पूना में लोगों का असंतोष इतना बढ़ा कि महारानी विक्टोरिया के जन्म-दिवस के दिन मि० रैन्ड, आई० सी० एस०, प्लेग अफ़सर, जब गवर्नमेन्ट हाउस से लौट रहे थे, उन की हत्या हो गई। उन के साथ ही लेफ़्टिनेंट एअर्स्ट भी मार डाले गए। लोगों की इस बेवक़ूफ़ी और अपराध से सरकार इतनी नाराज़ हुई कि उस ने संगठित रूप से दमन का प्रारंभ कर दिया। उस ने यह मान कर कार्रवाई शुरू की कि यह हत्या किसी षड्यंत्र के परिणाम-स्वरूप हुई है। लेकिन पूना के सेशन-जज मि० क्रो ने, जिन की अदालत से चिपकर बंधुओं पर मामला चल कर उन्हें सज़ा मिली थी, जूरी को संबोधित करते समय कहा था कि मैं ने ख़ास तौर पर इस बात की ओर ध्यान दिया था, परंतु मुझे षड्यंत्र का कोई भी प्रमाण नहीं दिखाई पड़ा। सरदार नाटू बंधुओं को बांबे रेगुलेशन के ज़ोर से, जो सत्तर वर्ष पहले बिल्कुल दूसरे उद्देश्य से जारी किया गया था, निर्वासित कर दिया गया। मि० तिलक तथा

अनेक अन्य सार्वजनिक कार्यकर्ताओं पर राज-विद्रोह के अभियोग में मामला चला और उन्हें लंबी-लंबी सज़ाएं मिलीं। बंबई हाईकोर्ट के जज, मि० (बाद को सर आर्थर) स्ट्रेची ने ताज़ीरात-हिंद की राजविद्रोह-संबंधी धारा (१२४-अ) में आनेवाले 'राज-विद्रोह' शब्द की नई व्याख्या करके उस का अर्थ लगाया राजभक्ति का अभाव और इस ग़लत परिभाषा के आधार पर जूरी ने बहुमत से मि० तिलक को अपराधी ठहराया और उन्हें अठारह महीने की कड़ी क़ैद की सज़ा मिली। बंबई प्रांत में समाचारपत्रों पर नियंत्रण रखने के लिए प्रेस कमेटियों की स्थापना हुई। वर्ष के अंत में वायसराय की लैजिस्लेटिव कौंसिल में इस आशय के बिल पेश किए गए कि ताज़ीरात-हिंद में १५३-अ की नई धारा जोड़ दी जाय और धारा १२४-अ की व्यापक भाषा को और भी व्यापक कर दिया जाय। इन क़ानूनी परिवर्तनों का उद्देश्य यह था कि दो जातियों के बीच कटुता उत्पन्न करनेवालों को दंड दिया जा सके और भारत के बाहर ऐसे शब्दों का व्यवहार करनेवाले लोगों को भी जिन्हें भारत सरकार राजनीतिक अपराध समझे, सज़ा दी जा सके। साथ ही ज़ाब्ता फ़ौजदारी में एक नई दफ़ा, धारा ११०, जोड़ने का प्रस्ताव हुआ ताकि जिस प्रकार मजिस्ट्रेट बदमाशों के ख़िलाफ़ दफ़ा ११० की कारंवाई कर सकते हैं, उसी प्रकार १२४-अ या १५३-अ के अभियुक्तों के विरुद्ध दफ़ा १०८ की कारंवाई कर सकें। पोस्ट आफ़िस ऐक्ट में इस प्रकार का संशोधन करने की तजवीज़ पेश की गई कि अगर पोस्टमास्टरों को डाकख़ाने के द्वारा जानेवाली किसी वस्तु की बाबत यह संदेह हो कि उस में राजविद्रोहात्मक मसाला है तो उसे रोक सकें। देश भर में इन बिलों का विरोध हुआ और कौंसिल के अंदर भी दरभंगा के देशभक्त महाराजा सर लक्ष्मीश्वर सिंह के नेतृत्व में जनता के प्रतिनिधियों ने उन का विरोध किया। लेकिन सब बेकार हुआ और सन् १८९८ के प्रारंभिक भाग में सारे बिल क़ानून बन गए। मुझे इन

घटनाओं का कुछ स्मरण है। लोगों का विचार साधारणतः यह था कि बंबई सरकार घबरा गई थी और भारत-सरकार ने इस मौक़े से लाभ उठा कर जनता के अधिकारों में, जो पहले ही बहुत नहीं थे, और भी कमी कर दी। दक्षिण के चितपावन ब्राह्मणों पर वैसे ही राजनीतिक संदेह की दृष्टि रहती थी, क्योंकि वे शिवाजी तथा पेशवाओं के कीर्तिमय दिनों को नहीं भूले थे और मि० तिलक तो अपने व्यक्तित्व तथा अपने 'केसरी' के कारण सरकार को एक भयानक विरोधी दिखाई पड़ने लगे थे। सरकार की जानकारी का ख़ास ज़रिया पुलिस-विभाग था। नाजानकारी और उस से पैदा होने वाले भय ने लार्ड सैंडहर्स्ट और उन की सरकार को ऐसा भयभीत कर दिया, जैसे उन्हें किसी संगठित विद्रोह का सामना करना पड़ रहा हो। केवल भारतीय नेताओं ही का यह विचार नहीं था कि बंबई सरकार बेमतलब घबरा गई है। संयुक्त प्रांत के तत्कालीन लेफ़्टिनेंट-गवर्नर सर एन्टानी मैकडॉनल ने भी उन्हीं दिनों पंडित बिशननरायन दर से कहा था, "यह राजनीतिक अशांति का मामला है क्या? मुझे बंबई भेज दें और मैं एक पखवारे के अंदर शांति स्थापित कर दूंगा।" भारत की शासन-प्रणाली तो असंतोषजनक थी ही और है भी, साथ ही शासक के व्यक्तित्व से भी बड़ा अंतर पड़ जाता है। जिस समय पंजाब के लाट सर माइकेल ओडायर थे, संयुक्त प्रांत में सर हारकोर्ट बटलर थे। दोनों प्रांतों की शासन-प्रणाली एक थी, परंतु दोनों लाटों के ढंगों की भिन्नता के कारण परिणाम में कितना अंतर पड़ गया?

लार्ड कर्ज़न

प्लेग का प्रकोप बढ़ता ही रहा, जिस के कारण राजनीतिक क्षेत्र में भी कुछ खेदजनक घटनाएं घट गईं। १८९९—१९०० में ऐसा भीषण अकाल पड़ा, जो १८९६—९७ के अकाल से भी अधिक भयंकर था। सन् १८९८ के अंत में लार्ड कर्ज़न वायसराय हो कर आए। सात वर्ष तक लगातार उन्हों ने

एक के बाद एक ऐसी कार्यवाहियां कीं, जिन से जनता को घोर आपत्ति थी। यह सच है कि उन्हों ने कुछ अच्छे काम भी किए, लेकिन उन की मुख्य भावना सदा यही रही कि भारत पर इंगलैंड का अधिकार है और वह बना रहना चाहिए; हिंदुस्तान जिस साम्राज्यवादी पंजे में जकड़ा हुआ है वह और भी कड़ा किया जाय और राजनीतिक उन्नति की कोई बात सोची भी न जाय। उन की शिक्षा-संबंधी नीति का प्रथम चिह्न तो यह दिखाई दिया कि विश्वविद्यालयों से ज़बर्दस्ती ली-वार्नर की 'भारत के नागरिक' नामक पुस्तक को पढ़ाई के लिए मंज़ूर कराया गया। और अंतिम कार्य था सन् १६०४ के विश्वविद्यालयों-संबंधी क़ानून का पास किया जाना। लोगों ने उन की नीति का यही मतलब लगाया कि भारतवासियों में अंग्रेज़ी-शिक्षा के प्रसार का जो राजनीतिक परिणाम हुआ है, उस से ब्रिटिश सरकार असंतुष्ट है।[1] लार्ड कर्ज़न का शिक्षा-संबंधी अंतिम भाषण वह था जो सन् १६०५ में उन्हों ने कलकत्ता विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह के अवसर पर दिया था। अपने इस बदनाम भाषण में उन्हों ने भारतीय जनता पर यह लांछन लगाया कि उसे सत्य के लिए सम्मान की भावना नहीं है। इतने से भी संतुष्ट न होकर, उन्हों ने यह भी कहने की धृष्टता की कि सत्य कभी भी भारतीय आदर्श नहीं रहा। इस भाषण का सब से अधिक व्यंगपूर्ण उत्तर 'अमृतबाज़ार-पत्रिका' के द्वारा भगिनी निवेदिता ने दिया था। उन्हों ने लार्ड कर्ज़न की ही एक पुस्तक से अवतरण देकर दिखाया कि जब वे चीन गए थे तो, उन के ही शब्दों में, उन्हों ने चीन की विधवा महारानी से उन की दृष्टि में अपना महत्व बढ़ाने के लिए अपने संबंध में झूठी बातें

[1] सन् १६०२ में जो इंडियन यूनीवर्सिटीज़ कमीशन बैठा था, उस के सदस्य की हैसियत से सर गुरुदास बनर्जी ने अपना मंतव्य अलग से लिखा था। उस समय की शिक्षा-संबंधी नीति की आलोचना तथा उचित नीति की व्याख्या की दृष्टि से यह मंतव्य आज भी पठनीय है।

कही थीं। लार्ड कर्ज़न ने तिब्बत को सेना भेजी और यह तो कहना ही बेकार है कि उस का ख़र्चा भारत के सिर पड़ा। उन का अंतिम और मुख्य कार्य था बंगाल प्रांत को दो भागों में विभाजित करना, जिस से स्वभावतः उस प्रांत में बड़ी भारी नाराज़ी फैली। उस के जो परिणाम हुए उन की गूँज आज भी सुनाई पड़ सकती है। जब सन् १६०५ के उत्तरार्द्ध में लार्ड कर्ज़न अचानक हिंदुस्तान से चल दिए, ऐसे अचानक जैसे रात के समय चोर चल देता है, उस समय सारे देश में एक सिरे से दूसरे सिरे तक असंतोष की आग भड़की हुई थी। उन्हों ने असंतोष का बीज बोया और उस की फ़सल काटनी पड़ी उन के उत्तराधिकारी को।

भारत-मंत्री

भारत के दुर्भाग्य से इस काल में भारत-मंत्री भी ऐसे हुए जो स्थिति को असंतोष-जनक बनाने में किसी भी तरह वायसरायों से पीछे रहना नहीं चाहते थे। एक तो सर हेनरी फ़ाउलर थे (जो बाद को सर लार्ड वौल्वर हैम्पटन हुए) जो कहने को तो उदारदल के थे, परंतु वास्तव में उतने ही अनुदार थे जितना कोई अनुदार-दल वाला हो सकता था। उन के बाद आए लार्ड जॉर्ज हैमिल्टन। ये अनुदारता में अपने पूर्वाधिकारी से भी बढ़े-चढ़े थे। अगर सर हेनरी फ़ाउलर भारत को कोड़े लगवाने का दंड देना चाहते थे, तो लार्ड जॉर्ज हैमिल्टन उसे बिच्छुओं से कटवाना चाहते थे। उन के हृदय में भारत की साधारण से साधारण राष्ट्रीय आकांक्षाओं के प्रति भी सहानुभूति का इतना अभाव था कि उन से अधिक सहानुभूति-हीन मनुष्य मिल सकना कठिन ही था। आठ वर्ष तक वे भारत-मंत्री के पद पर अड़े रहे और यह समय भारत के लिए बड़ा वेदनामय था। उन के उत्तराधिकारी थे मि० सेंट जॉन ब्रोडरिक (जो अब लार्ड मिडिलटन हैं)। उन के भारत-मंत्री नियुक्त किए जाने का एकमात्र कारण यही था कि युद्ध-मंत्री के पद पर वे इतने असफल अथवा अयोग्य सिद्ध हुए थे कि उन्हें उस पद से हटाना आवश्यक हो गया था। उन के राजनीतिक

दृष्टिकोण का अंदाज़ा इन दो बातों ही से भली-भाँति लगाया जा सकता है कि एक तो उन्हों ने यह प्रस्ताव रक्खा था कि दक्षिणी अफ़्रीका में रहने वाली ब्रिटिश सेना के ख़र्चे का कुछ भाग भारत पर लादा जाय और दूसरे उन्हों ने लार्ड कर्ज़न की बंग-भंग की आयोजना को मंज़ूर किया था। इस काल के प्रांतीय गवर्नर भी भारत-मंत्रियों तथा वायसरायों की अपेक्षा शायद ही कुछ अच्छे रहे हों। उन में ऐसे-ऐसे व्यक्ति थे, जैसे बंबई के लार्ड हैरिस, संयुक्त प्रांत के सर चार्ल्स क्रॉस्थवेट और बंगाल के सर चार्ल्स ईलियट तथा सर एलेग्ज़ेंडर मेकेंज़ी।

दक्षिणी अफ़्रीका

एक प्रश्न का, जो इस काल में प्रथम बार उठा था, उल्लेख कर देना इस लिए आवश्यक है कि आगे चल कर वह एक बड़ा प्रश्न बन गया और अब तक बना हुआ है। वह प्रश्न है दक्षिणी अफ़्रीका तथा ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य भागों में हमारे देशवासियों पर होने वाले अत्याचारों का। कांग्रेस के सामने यह प्रश्न प्रथम बार सन् १८९४ में मद्रास में आया था। सन् १८९६ तक यह प्रश्न इतना विकट रूप धारण कर चुका था कि एक युवक भारतीय बैरिस्टर को जो एक मुक़दमे के संबंध में दक्षिणी अफ़्रीका जाकर अपने निस्सहाय तथा अत्याचार-पीड़ित देशबंधुओं की सहायतार्थ वहीं रह गए थे, ख़ास कर इस लिए भारत आना पड़ा था कि वे कांग्रेस में तथा भारत के नेताओं में दक्षिणी अफ़्रीका के संबंध में दिलचस्पी पैदा करें। उक्त भारतीय बैरिस्टर के विषय में हमें बहुत कुछ कहना पड़ेगा, परंतु अभी नहीं।

कांग्रेस की ब्रिटिश कमेटी

यहां चंद शब्द उस संस्था के संबंध में भी कह देना ठीक होगा जिस की स्थापना इस काल में हुई थी और जिस से इंगलैंड में भारत-संबंधी कार्य में बड़ी उपयोगी सहायता प्राप्त हुई। हमारा अभिप्राय इंडिअन नेशनल कांग्रेस की ब्रिटिश कमेटी से है। पहले इसी

तरह की संस्था इंडिअन पोलिटिकल एजेंसी थी जिस का संचालन मि० विलिअम डिगबी करते थे। इस नई कमेटी के चेअरमैन थे सर विलिअम वैडरबर्न और उस के प्रमुख सदस्यों में दादाभाई नौरोजी, ए० ओ० ह्यूम, डब्लू० एस० केन, सैमुअल स्मिथ, उमेशचंद्र बनर्जी और हर्बर्ट रॉबर्ट्स (अब लार्ड क्लूइड) थे। कुछ वर्षों बाद कमेटी में सर हैनरी कॉटन भी शामिल हो गए थे। कमेटी ने स्वयं भी और इंडिअन पार्लामेंटरी कमेटी के द्वारा भी सर विलिअम वैडरबर्न के नेतृत्व में भारत के लिए बड़ा काम किया। कमेटी 'इंडिआ' नामक एक पत्र भी निकालती थी, जो पहले तो मासिक था और बाद को साप्ताहिक हो गया था। उस के प्रथम संपादक मि० विलिअम डिगबी थे जो बड़े ही परिश्रमी और जानकार आदमी थे। लेकिन उस के सब से प्रतिष्ठित संपादक थे मि० गार्डन हीवार्ट, जो अब लार्ड हीवार्ट हो गए हैं और इस समय इंगलैंड के लार्ड चीफ़ जस्टिस के आसन को सुशोभित कर रहे हैं।

इंगलैंड में भारत के लिए जो कार्य हो रहा था उस के प्राण थे

सर विलियम वैडरबर्न

सर विलिअम वैडरबर्न। जैसा कि वह स्वयं कहा करते थे उन के कुल में कई पुश्तों से भारत की सरकारी नौकरी का काम होता आया था। वह अपने को भारत का सेवक मानते थे और वास्तव में थे भी। एक सिविलियन की हैसियत से उन्हों ने पच्चीस वर्ष तक बंबई प्रांत में एक सरकारी कर्मचारी का जीवन व्यतीत किया और इस बीच सदा भारतीयों के प्रति सहानुभूति का भाव रक्खा। पेंशन लेने के बाद वे २६ वर्ष जीवित रहे और यह समय पूरा-पूरा उन्हों ने भारत की सेवा में व्यतीत किया। भारत की सेवा में उन्हों ने अपना समय ही नहीं दिया, तन-मन-धन से वे उसी में लगे रहे। उन्हें भारत से एक हज़ार पाउंड सालाना की जो पेंशन मिलती थी उस की पाई-पाई वे भारत के काम में ख़र्च करते थे और २६

वर्ष में उन्हों ने लाखों रुपए हमारे लिए ख़र्च किए होंगे। सात वर्ष तक वे पार्लामेंट के मेंबर रहे और उन से अधिक उदार मेंबर दूसरा नहीं हुआ। सन् १८८९ में बंबई वाली कांग्रेस का अध्यक्ष-पद सुशोभित करने के पश्चात् वे दो बार भारत आए—एक तो १९०४ की कांग्रेस में सम्मिलित होने के लिए जिस के अध्यक्ष थे सर हैनरी कॉटन और दूसरी बार सन् १९१० में इलाहाबाद वाली कांग्रेस में अध्यक्ष का पद ग्रहण करने के लिए। मि० रानाडे ने मि० गोखले से कहा था कि जितने अंग्रेज़ों से उन का परिचय हुआ था उन में कोई ऐसा नहीं था जिस की वैडरबर्न से तुलना की जा सकती हो। सर सुरेंद्रनाथ बनर्जी ने उन की प्रशंसा करते हुए कहा था कि "अंग्रेज़ कर्मचारी के वेश में वे सचमुच एक भारतीय देशभक्त हैं।........अगर सर विलिअम वैडरबर्न का जन्म अधिक अंधविश्वास-पूर्ण समय में हुआ होता तो उन के समकालीन लोग यह विश्वास कर लेते कि किसी महान हिंदू महात्मा की आत्मा ने अपने लोगों के कल्याण के लिए फिर से जन्म ग्रहण किया है।" मि० गोखले का उन के साथ घनिष्ठ संपर्क रहा था और उन्हें उन के प्रति निस्सीम प्रेम तथा सम्मान था। सर विलिअम भी मि० गोखले से पिता की भाँति स्नेह रखते थे। मि० गोखले ने उन के संबंध में कहा था, "आधुनिक युग के इस महान् और आदरणीय ऋषि का चित्र इतना पवित्र, इतना सुंदर और इतना उत्साह-प्रद है कि उस का शब्दों द्वारा वर्णन नहीं हो सकता। वह ऐसा चित्र है जिस पर प्रेम और श्रद्धापूर्वक विचार किया जाय और मौन-पूर्वक मनन किया जाय।" ऐसी सुंदर श्रद्धांजलि के साथ मेरे अपने शब्द क्या शोभा देंगे?

दादाभाई नौरोजी

कांग्रेस के प्रथम बीस वर्ष वाले काल के प्रमुख राजनीतिक कार्यकर्ताओं के संबंध में यहां कुछ थोड़ा-सा कह देना अनुचित न होगा। निस्संदेह उन में सब से महान् व्यक्ति का कुछ उल्लेख पहले भी हो चुका है। यह

अद्वितीय गौरव उन्हीं को प्राप्त है कि कांग्रेस से पहले के चालीस वर्षों में उन्हों ने अपने अथक प्रयत्नों से भारत में सुसंगठित सार्वजनिक जीवन का निर्माण किया और कांग्रेस की स्थापना के बाद इक्कीस वर्ष तक वे राष्ट्रीय भारत के सर्वोपरि नेता रहे। (इस के बाद वे दस वर्ष और जीवित रहे, परंतु राजनीति से अवकाश ग्रहण करके) उन की 'भारत में निर्धनता और अब्रिटिश शासन' नामक अंग्रेज़ी पुस्तक एक महान वस्तु थी और भारतीय राजनीति के विद्यार्थियों को उस का आज भी अध्ययन करना चाहिए। इस से मालूम हो जायगा कि उन्हों ने जंगल को काटकर वे चौड़ी पगडंडियां बनाई थीं जिन के सहारे हमारा राजनीतिक आंदोलन बहुत वर्षों तक चलता रहा और किसी हद तक आज भी चल रहा है। भारत के धन का शोषण दादाभाई नौरोजी के अगणित लेखों तथा भाषणों का केंद्रीय विषय था। राजनीतिक पराधीनता की बहुमुखी बुराइयों पर जितना अधिक और लगातार उन्हों ने ज़ोर दिया, उतना किसी और ने नहीं ; और ऐसा कोई महत्वपूर्ण विषय नहीं था जिस की उन्हों ने पूरी-पूरी जानकारी हासिल न की हो। इकसठ वर्ष तक इंगलैंड में और भारत में, दिन और रात, अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थितियों में समान रूप से, ऐसी-ऐसी निराशाओं का सामना करते हुए जिन से दिल न टूटने देना उन्हीं का काम था, दादाभाई नौरोजी ने ऐसे अविचल उद्देश्य के साथ, ऐसी पूर्ण निःस्वार्थता के साथ, और ऐसे दृढ़ विश्वास के साथ मातृभूमि की सेवा की, कि उसे देख कर अधिकांश युवकों को भी लज्जित हो जाना पड़ेगा। वर्षों तक वे इस देश के सार्वजनिक कार्यकर्ताओं में सब से अधिक संयत वक्ता थे, परंतु पिछले वर्षों में बार-बार की निराशाओं के फल-स्वरूप उन के भाषणों में बरबस काफ़ी कटुता आ गई थी। फिर भी इस में संदेह नहीं कि उन की आत्मा बड़ी ही कोमल और उदार थी। किसी की बाबत वह बुरा विचार रखना नहीं चाहते थे और उन के जीवन भर में उन से व्यक्तिगत शत्रुता माननेवाला तो कोई नहीं हुआ।

चाहे व्यक्तिगत चरित्र को कसौटी बनाया जाय और चाहे देशसेवा के कार्यों को, दादाभाई नौरोजी के देशवासियों को अपने सम्मुख आदर्श-स्वरूप रखने के लिए उन से अधिक उपयुक्त व्यक्ति दूसरा नहीं मिल सकता।

महादेव गोविंद रानाडे

महादेव गोविंद रानाडे का स्थान केवल दादाभाई नौरोजी ही से उतर कर है। उन के और नौरोजी के बीच एक प्रकार का आध्यात्मिक संबंध था और दोनों को एक-दूसरे के प्रति परम सम्मान की भावना थी। रानाडे नौरोजी का उल्लेख सदा 'प्रोफ़ेसर दादाभाई' कह कर किया करते थे, क्योंकि जब रानाडे विद्यार्थी ही थे तभी नौरोजी प्रोफ़ेसर हो गए थे, पहले बंबई के एलफ़िंस्टन कालेज में और फिर लंदन के यूनीवर्सिटी कालेज में। अगर दादाभाई नौरोजी भारत के उन्नीसवीं शताब्दी के सब से महान देशभक्त थे, तो रानाडे सब से बड़े विचारक थे। उन के छात्र-काल में ही उन की भावी महानता के लक्षण प्रकट हो गए थे। एम० ए० की परीक्षा में उन्हों ने परीक्षा-प्रश्नों के उत्तर ऐसे सुंदर दिए थे कि (कहा जाता था) सर एलेग्जेंडर ग्रांट ने उन्हें एडिनबरा विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के सम्मुख आदर्श-स्वरूप उपस्थित किए जाने के लिए भिजवा दिया था। रानाडे अत्यंत मेधावी, घोर परिश्रमी और बहुमुखी विद्वत्ता के व्यक्ति थे—गंभीर विचारक और उत्साही देशभक्त। यद्यपि जीवन भर उन्हें सरकारी नौकरी की बाधा रही, फिर भी वे सदा राजनीतिक, धार्मिक और उस से भी अधिक समाज-सुधार के कार्य में उत्साह-पूर्वक लगे रहे। वे भारतीय अर्थशास्त्र के अधिकार-पूर्ण ज्ञाता थे, महान शिक्षाविद् थे और अपने पास काफ़ी बड़ी संख्या में आते रहनेवाले युवकों के गुरु तथा उत्साह-दाता थे। इन सब महान गुणों के होते हुए भी रानाडे बड़े ही संकोची, सीधे-सादे, शिष्ट और निरभिमान थे और उन में वह धार्मिकता और विनम्रता भरी हुई थी

जो सच्ची महानता के साथ सदा पाई जाती है। भारत के सार्वजनिक प्रश्नों में दिलचस्पी रखनेवाले विद्यार्थियों को रानाडे की भारतीय अर्थ-शास्त्र, धार्मिक तथा सामाजिक सुधार, और मराठों के उदय-संबंधी लेखमालाओं को अवश्य पढ़ना चाहिए।

सर फ़ीरोज़शाह मेहता

उन के बाद सर फ़ीरोज़शाह मेहता का नंबर आता है। उन का व्यक्तित्व प्रभावोत्पादक था, उन के रंग-ढंग शान-दार थे और उन की बुद्धि बड़ी प्रखर थी। सन् १८६८ में वे बैरिस्टरी पास कर के विलायत से लौटे और आते ही उस राजनीतिक शिक्षा का जो उन्हों ने अपनी छात्रावस्था में दादाभाई नौरोजी से प्राप्त की थी, देश के लिए उपयोग करना प्रारंभ कर दिया। सन् १९१५ में उन का स्वर्गवास हुआ और इस बीच के ४७ वर्षों में उन्हों ने देश की बड़ी योग्यतापूर्वक सेवा की। उन की रचनात्मक प्रतिभा का केवल एक उदाहरण दे देना ही यथेष्ट होगा। १८६८ ही में वे बंबई कारपोरेशन के सदस्य हो गए थे। इस के तीन वर्ष बाद जब कि उन की अवस्था केवल २६ वर्ष थी, उन्हों ने बंबई में एक सभा के सम्मुख म्यूनिसिपल सुधार के संबंध में एक निबंध पढ़ा था। उस समय उन्हों ने बंबई कारपोरेशन के लिए जो संगठन तैयार किया था, उसे बहुत कुछ उसी रूप में सरकार तथा लैजिस्लेटिव कौंसिल ने स्वीकार कर लिया और अब तक भी भारत के प्रमुख म्यूनिसिपल कार-पोरेशन का संगठन मोटे तौर पर प्रायः वही है। कांग्रेस, बंबई प्रांतीय कौंसिल तथा केंद्रीय कौंसिल की बैठकों में, कान्फ़रेंसों में और सार्व-जनिक सभाओं में सर फ़ीरोज़शाह मेहता के जो भाषण होते थे, वे प्रति-भापूर्ण भाषा तथा विचारों की प्रौढ़ता दोनों ही दृष्टियों से भारतीय राज-नीतिक विचारधारा की मूल्यवान निधि हैं। वक्ता तो वे प्रभावशाली थे ही, वाद-विवाद की पटुता में तो उन की जोड़ का दूसरा व्यक्ति भारत में अभी तक नहीं हुआ। स्वतंत्रचेता तथा निर्भीक भी वे एक ही थे।

भय किसे कहते हैं, यह तो कभी उन्हों ने जाना ही नहीं। वे जन्मसिद्ध नेता थे। उन के व्यक्तित्व के प्रभाव से कोई नहीं बच पाता था। सन् १९०७ में पार्लमेंट के एक लिबरल सदस्य, डा० रदरफ़ोर्ड, हिंदुस्तान आए थे। उन्हों ने 'मैनचेस्टर गार्जियन' में लिखा था कि फ़ीरोज़शाह जिस किसी भी देश में होते उस के राजनीतिक क्षेत्र में सर्वोपरि होते; अगर उन का जन्म इंगलैंड में हुआ होता तो वे प्रधान मंत्री होते, परंतु चूँकि उन का जन्म एक पराधीन देश में हुआ है, इस लिए उन का जीवन विफल आलोचना में बीत रहा है।

गोपाल कृष्ण गोखले

नौरोजी, रानाडे और मेहता की ही परंपरा में श्री गोखले हैं। दादाभाई नौरोजी के प्रति उन की क्या भावना थी, इस बात का उल्लेख किया जा चुका है। रानाडे बारह वर्ष तक उन के गुरु रहे थे। मेहता की बुद्धिमत्ता तथा ईमानदारी में उन्हें इतना विश्वास था कि वे कहा करते थे कि "मुझे फ़ीरोज़शाह के विरुद्ध चल कर ठीक काम करने की बनिस्बत, उन का साथ दे कर ग़लती करना ज़्यादा पसंद है।" मि० गोखले की छात्रावस्था निर्धनता और कठिनाई में बीती थी, और उन में इतनी योग्यता थी कि वे जीवन में बड़े से बड़ा पद प्राप्त कर सकते थे, परतु बीस वर्ष की अवस्था पूरी होने के पूर्व ही उन्हों ने ग़रीबी और त्याग का जीवन व्यतीत करने का निश्चय कर लिया। मि० गोखले जीवन भर आदर्शवादी रहे, परंतु साथ ही वे व्यवहारकुशल आदर्शवादी थे। उन्हीं के शब्दों में, वे अपने देशवासियों की आकांक्षाओं पर किसी भी प्रकार का बंधन नहीं लगाना चाहते थे, परंतु साथ ही वे सदा इस बात का भी पूरा ध्यान रखते थे कि राजनीति में परिस्थिति, विचारों और लोकमत के परिवर्तनों को देखते हुए कार्य करना पड़ता है। ग्लैडस्टोन की भाँति वे इस बात को मानते थे कि सभी समस्याएं सदा के लिए नहीं हैं

और असंभव तथा संभव उद्देश्यों के अंतर को समझ सकते थे। लार्ड मॉर्ले की राय थी कि गोखले में मस्तिष्क तो राजनीतिज्ञ का है और समझदारी ज़िम्मेदार शासक जैसी है। उन के विचार, शब्द तथा कार्य के बीच सदा पूर्ण सामंजस्य रहता था और वे उन गिने-चुने व्यक्तियों में से थे जो जिस मार्ग को ठीक समझते हैं उस से किसी भी कारण से विचलित नहीं हो सकते। अगर हमारा उद्देश्य पवित्र है तो उस की पूर्ति के लिए हम सभी तरह के साधनों से काम ले सकते हैं, इस अनैतिक विचार का उन्हों ने सदा ज़ोरों से खंडन किया। बल्कि उन का विचार तो यह था कि परिश्रम का असली फल तो कर्तव्य-पालन ही में है, न कि सफलता में। प्रत्येक कार्य में वे उचित-अनुचित का बेहद ख़याल रखते थे। जैसी उन की बुद्धि प्रखर थी, वैसी ही अथक उन की परिश्रमशीलता तथा क्रियाशीलता थी, अतः आश्चर्य नहीं कि उन का ज्ञान जैसा ही व्यापक तथा बहुमुखी था वैसा ही त्रुटिहीन था। एस्क्विथ की भाँति वे अपनी बात को सीधे ढंग से और स्पष्टतापूर्वक कहते थे। बौद्धिक सचाई उन में इतनी अधिक थी कि जब उन्हें पूरी तरह विचार तथा विश्लेषण कर के इस बात का संतोष हो जाता था कि उन का मत ठीक है और आलोचना से हिल नहीं सकता, तभी वे कोई मत प्रकट करते थे। और न कभी उन के व्यवहार से यही प्रकट हुआ कि उन में बौद्धिक साहस की कमी है। उन की विचारधारा उन्हें जिस परिणाम पर पहुँचाती थी उसे प्रकट करने तथा उस पर क़ायम रहने में वे कभी संकोच न करते थे, चाहे इस के फल-स्वरूप उन्हें अपने ही उन देश-वासियों का अप्रिय बनना पड़े जिन में विचारशीलता की अपेक्षा उत्साह की मात्रा अधिक थी। उन का व्यक्तित्व जैसा आकर्षक था वैसा ही प्रभावोत्पादक भी था। कम अवस्था वाले लोगों को उन के संपर्क में आते ही स्वतः ही ज्ञान हो जाता था कि उन के तथा

गोखले के बीच बड़ा अंतर है और उन के सम्मुख किसी तुच्छ अथवा स्वार्थपूर्ण विचार को हृदय में स्थान दे सकना भी असंभव है। शायद बहुत थोड़े ही लोगों को उन की घनिष्टता प्राप्त करने का सुअवसर मिला था, लेकिन जिन को मिला था वे यह कभी नहीं भूल सकते कि उन की एकांत की बातों में कितनी विचारशीलता रहती थी और कितना आकर्षण। उन की बातें सुनते समय मुझे तो ऐसा लगता था जैसे वह अनायास ही अपने मार्ग में पुष्पों की वर्षा करते चलते हों। उन की योग्यता उन की देशभक्ति से अधिक थी या देशभक्ति योग्यता से बढ़ कर थी, यह कह सकना कठिन है। केवल ३१ वर्ष की अवस्था में उन्हों ने भारत सरकार के व्यय के संबंध में रायल कमीशन के सम्मुख इंगलैंड में जो बयान दिया था, उसी से उन की असाधारण योग्यता की धाक बैठ गई थी। इंडिअन लैजिस्लेटिव कौंसिल में उन जैसी योग्यता का दूसरा सदस्य नहीं हुआ। अपनी मेंबरी के प्रारंभिक चार वर्ष तो वे लार्ड कर्ज़न जैसे योग्य व्यक्ति से प्रायः अकेले ही युद्ध करते रहे। स्वभावतः एक हठी साम्राज्यवादी तथा एक निर्भीक देशभक्त के पारस्परिक संबंध सदा स्नेहपूर्ण नहीं रह सकते थे, फिर भी लार्ड कर्ज़न के हृदय में उन के प्रति परम प्रशंसा तथा सम्मान का भाव था। एक बार उन्हों ने मि० गोखले को पत्र में लिखा था कि "परमात्मा ने आप को असाधारण योग्यता प्रदान की है और आप ने उसे समग्र रूप से देश की सेवा में अर्पित कर दिया है।" आज भी ऐसा कोई सार्वजनिक प्रश्न कठिनता से ही मिलेगा जिस के समझने में हमें मि० गोखले के किसी न किसी भाषण से कुछ प्रकाश न मिल सकता हो। वे देश के कार्य से कई बार इंगलैंड गए थे और वहां के सार्वजनिक कार्यकर्ताओं पर उन का ऐसा प्रभाव पड़ा था कि एक बार 'नेशन' के महान संपादक मि० मैसिंघम ने मुझ से कहा था कि गोखले की समकक्षता का बुद्धिमान राज-

नीतिज्ञ कोई इंगलैंड में भी नहीं था और निस्संदेह वह मि० एस्क्विथ से भी महान थे। उन्हों ने यह भी कहा था कि लार्ड मॉर्ले को भारत-मंत्री की हैसियत से जो सफलता प्राप्त हुई थी उस का मुख्य कारण मि० गोखले का परामर्श ही था। देश-सेवा के अन्य अनेक कार्यों के अतिरिक्त मि० गोखले का एक कार्य भारत-सेवक समिति की स्थापना थी, जिस के आदर्श से और ऊँचा आदर्श हो नहीं सकता। उस का ध्येय है "मातृभूमि के प्रति ऐसी गंभीर तथा हार्दिक भक्ति कि उस का विचार ही मनुष्य को उत्साह से भर दे और जिस का स्पर्श मनुष्य को ऊँचा उठा दे।" ये शब्द मैं ने उस भाषण से दिए हैं जो मि० गोखले ने भारत-सेवक समिति की स्थापना के छः मास पश्चात् कांग्रेस के काशीवाले अधिवेशन में सभापति के आसन से दिया था। कांग्रेस के अध्यक्ष बनाए जाने के समय उन की अवस्था केवल ३९ वर्ष की थी। इतनी कम अवस्था में कोई अन्य व्यक्ति कांग्रेस का अध्यक्ष नहीं हुआ था, फिर भी कांग्रेस के सब से अधिक बुद्धिमान तथा सब से महान अध्यक्षों में उन का स्थान है। उस बार की कांग्रेस वाला उन का भाषण एक महान भाषण था, परंतु उस से भी अधिक महान थे वे स्वयं। मैं यह बात अपनी जानकारी से कहता हूं कि जब मि० गोखले को किसी सार्वजनिक प्रश्न के कारण चिंता उत्पन्न हो जाती थी तो वे सो नहीं पाते थे। उन का स्वास्थ्य बिगड़ रहा है, इस बात की उन्हें तनिक भी चिंता न रहती थी। उन्हें तो हर वक्त और हर हालत में देश की बात सोचना और देश के लिए परिश्रम करना आवश्यक था। उन से मैं ने यह आदर्शवाक्य पाया है "देशभक्त देवतुल्य हैं।" वे स्वयं आदर्श देशभक्त थे और हम जैसे अनेक लोगों के लिए देवता थे।

अगर रानाडे ने भारत को गोखले जैसा देशभक्त प्रदान किया, तो गोखले ने देश को भारत-सेवक समिति प्रदान की जिस में माननीय श्रीनिवास शास्त्री तथा पंडित हृदयनाथ कुंज़रू जैसे व्यक्ति सम्मिलित हैं, और अभी उस दिन तक मेरे मित्र गोपाल कृष्ण देवधर सम्मिलित थे,

जिन से अधिक विशाल हृदयवाला व्यक्ति मैं ने दूसरा नहीं देखा, और जो कष्ट-पीड़ितों के वास्तविक मित्र थे। उन के स्वर्गवास से उन के देश-वासियों की भारी क्षति हुई है। मि० गोखले ने समिति की प्रस्तावना में लिखा था :—

अब समय आ गया है कि हमारे देशवासी यथेष्ट संख्या में देश के कार्य में उसी भावना से लग जायँ जिस भावना से धर्म का कार्य किया जाता है। सार्वजनिक जीवन में आध्यात्मिकता लाने की आवश्यकता है। देश-प्रेम से हमारा हृदय इस प्रकार भर जाना चाहिए कि उस की तुलना में और कोई भी वस्तु तुच्छ जँचने लगे, ऐसा उत्साहपूर्ण देश-प्रेम जो मातृभूमि की सेवा में त्याग का अवसर प्राप्त होने पर आनंद का अनुभव करे, ऐसा निर्भीक हृदय जो कठिनाई अथवा संकट से भयभीत हो कर अपने ध्येय से हटना न जानता हो, ईश्वरेच्छा में ऐसा दृढ़ विश्वास जिसे कोई भी वस्तु न हिला सके। इन साधनों से सुसज्जित हो कर कार्यकर्ता को अग्रसर होना चाहिए और श्रद्धापूर्वक उस आनंद की खोज करनी चाहिए जो मातृभूमि की सेवा में अपने को खपा देने से प्राप्त होता है।

मि० गोखले ने एक बार सर भाष्यम अय्यंगार के संबंध में कहा था कि ऐसे आदमी का अस्तित्व ही, जिस ने अपने (वकालत के) पेशे में न भूतो न भविष्यति प्रतिष्ठा प्राप्त की हो, देश की सेवा है, क्योंकि ऐसे आदमियों की बदौलत संसार की दृष्टि में भारतमाता का पद ऊँचा हो जाता है। मि० गोखले से मेरा संबंध गुरु के प्रति शिष्य का संबंध था। इस संबंध से उत्पन्न होनेवाली सम्मान की भावना का ख़याल रखते हुए मैं कहूँगा कि जो बात वकालत के पेशे में सर भाष्यम की बाबत मि० गोखले ने कही थी, वही बात राजनीतिक क्षेत्र में स्वयं उन के संबंध में कही जा सकती है। उन का स्वर्गवास हुए बीस वर्ष से अधिक समय बीत चुका। यह समय बड़े कष्ट और कठिनाई का, संघर्ष और विवाद का रहा

है। इस बीच ऐसे अवसर आए हैं जिन में भारत के राष्ट्रीय नेताओं को अपनी अधिक से अधिक राजनीतिक बुद्धिमत्ता का उपयोग करने की आवश्यकता हुई है। इस महत्वपूर्ण समय में ऐसे नेता रहे हैं जिन की देशभक्ति के संबंध में कोई संदेह नहीं कर सकता, जिन के त्याग तथा कष्ट-सहन के लिए जनता में सदा सम्मान की भावना रहेगी। परंतु मैं यह कहने का साहस करूँगा कि गोखले के पश्चात् गोखले फिर नहीं दिखाई दिए। जिन्हें पिछले दस-पंद्रह वर्ष गोखले के संपर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, उन के मुख से निराशा के कारण कितनी बार ये शब्द निकल गए हैं कि "अगर गोखले घंटे भर के लिए मिल सकते!"

दीनशा वाछा

सर दीनशा ईदलजी वाछा को सम्मानपूर्वक स्मरण किए बिना बंबई प्रांत से विदा लेना उचित न होगा। पारसी समाज ने देश को नेताओं की जो त्रिमूर्ति प्रदान की थी, उस में नौरोजी और मेहता के साथ वाछा का भी नाम है। सर दीनशा उन देशभक्तों में से हैं जिन्हों ने देश के कार्य में कभी अपनी सुविधा का विचार नहीं किया। पत्रकार के रूप में उन्हों ने यत्र-तत्र-सर्वत्र लेख लिखे; अनेक व्यक्तियों को भी उन्हों ने नियमित रूप से लंबे-लंबे और स्पष्टवादितापूर्ण पत्र लिखे; बांबे प्रेसिडेंसी असोसिएशन और इंडिअन नेशनल कांग्रेस के वे मंत्री रहे; इतनी सार्वजनिक संस्थाओं के सदस्य रहे कि उन की गिनती गिनाना भी कठिन होगा और उन सब में सक्रिय रूप से भाग लिया; और अर्थ-शास्त्र, सरकारी आय-व्यय तथा आँकड़ों से संबंध रखने वाले प्रश्नों का अध्ययन करने में तो उन्हों ने बड़ा ही परिश्रम किया। क़रीब-क़रीब दो पीढ़ियों के बराबर समय तक उन्हों ने बड़े नियमित तथा निर्भीक रूप से सरकारी नीति तथा कार्यों की आलोचना की और उन के भाषण तथा लेख जानकारी के अपूर्व भांडार हैं जिन से भारतीय राजनीति के

विद्यार्थी यथेष्ट लाभ उठा सकते हैं। अब उन की अवस्था ९२ वर्ष की है और वे सब कामों से अवकाश ग्रहण कर चुके हैं। परंतु प्रसन्नता की बात है कि वे अब भी स्वस्थ हैं और इस से भी बड़ी बात यह कि सार्वजनिक मामलों के प्रति उन की दिलचस्पी बनी हुई है।[1] दो वर्ष पूर्व जब मैं उन से मिला था तो उन्हों ने कहा था कि सन् १८६१ से "इकॉनोमिस्ट" का कोई अंक ऐसा नहीं निकला जिस का उन्हों ने अध्ययन न किया हो। जब तक वे कांग्रेस में रहे, उन्हों ने अपना यह धार्मिक कर्तव्य समझा कि उस के एक भी अधिवेशन में अनुपस्थित न रहें। सन् १९०१ में वे कलकत्ता वाले अधिवेशन के अध्यक्ष भी हुए थे। अपने दीर्घकालीन सक्रिय जीवन में उन्हों ने भारत के राजनीतिक विकास में काफ़ी बड़ा भाग लिया।

अन्य नेता

बंबई प्रांत के इस काल के अन्य प्रमुख तथा उल्लेखनीय कार्यकर्ताओं के नाम इस प्रकार हैं:—बदरुद्दीन तैयबजी, काशीनाथ त्र्यंबक तैलंग, बाल गंगाधर तिलक, रहीमतउल्ला सैयानी (१८९६ की कांग्रेस के अध्यक्ष), झवेरीलाल उमाशंकर याज्ञिक, नारायण गणेश चंदावरकर, गोकुलदास पारिख, होरमसजी आर्देशर वाडिया, के० एन० बहादुरजी, भालचंद्र कृष्ण, दाजी अबाजी खरे, चिमनलाल हरिलाल सीतलवाद, रघुनाथ पांडुरंग करंधिकर, नारायण विष्णु गोखले, नारायण माधव समर्थ, अंबालाल साकरलाल देसाई और हरी सीताराम दीक्षित। मि० तैयबजी एक बड़े वकील और अच्छे वक्ता थे और कांग्रेस से सहयोग करनेवाले प्रथम मुसलमान नेता थे। सन् १८९५ में हाईकोर्ट के जज हो जाने के बाद भी वे इस बात की घोषणा किया करते थे, और वह भी हाईकोर्ट की कुर्सी से, कि मैं अब भी कांग्रेसमैन हूं। काशीनाथ त्र्यंबक तैलंग विद्वान थे—शिक्षाविद्, क़ानूनदां और

---

[1] सर दीनशा वाछा अब इस संसार में नहीं रहे।

राजनीतिज्ञ। वे बड़े अच्छे वक्ता थे और उतने ही अच्छे तार्किक थे। प्रतिभाशाली होने के कारण छात्रावस्था में उन्हों ने अपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया और केवल १९ वर्ष की अवस्था में बड़ी प्रतिष्ठा के साथ कालेज का विद्याध्ययन समाप्त कर दिया। शीघ्र ही वे नामी वकीलों में गिने जाने लगे। अपने पेशे के बाहर भी उन का सम्मान बढ़ रहा था। केवल ३२ वर्ष की अवस्था में वे इंडिअन एजूकेशन कमीशन के मेंबर नियुक्त हुए और तीन वर्ष बाद बंबई प्रांतीय लैजिस्लेटिव कौंसिल के सदस्य। ३९ वर्ष की अवस्था में वे हाईकोर्ट के जज हो गए और दो वर्ष बाद बंबई विश्वविद्यालय के वाइस-चांसलर। परंतु खेद है कि ४३ वर्ष की ही आयु में उन का असामयिक स्वर्गवास हो गया। वे किस दिमाग़ के आदमी थे, इस प्रश्न का निर्णय आप रानाडे का 'तैलंग की विचार-धारा' शीर्षक निबंध पढ़ कर स्वयं कर सकते हैं। कांग्रेस के दूसरे मुसलिम अध्यक्ष मि० सैयानी ने अपने भाषण में मुसलमानों की भारत में स्थिति के विषय पर प्रकाश डाला था। इस विषय की उन से अधिक व्यापक, शिक्षाप्रद तथा निष्पक्ष व्याख्या आज तक किसी अन्य व्यक्ति ने नहीं की। मि० यान्निक जैसे बहुश्रुत थे वैसे ही विचारशील थे। १९०२ में उन के जो निबंध प्रकाशित हुए थे, वे आज भी पठनीय हैं। सर गोकुलदास पारिख ने सन् १९०० के अकाल के समय और उस के बाद मालगुज़ारी के प्रश्न के संबंध में बड़ा कार्य किया था और उन की आलोचना से लाचार होकर बंबई सरकार को आख़िर अपनी नीति में परिवर्तन करना पड़ा। इस के पूर्व सन् १९०१ में बंबई सरकार ने रैयतों की अकाल के कारण दुर्दशा का लाभ उठा कर, घोर विरोध की उपेक्षा कर के, लैंड रेवेन्यू कोड में अवांछनीय संशोधन कर लिया था। इस संशोधन के प्रतिवाद में कौंसिल से प्रथम संगठित 'वाक-आउट' हुआ था, जिस के नेता थे सर फ़ीरोज़शाह मेहता। 'वाक-आउट' में भाग लेनेवाले अन्य सदस्य थे मि० गोखले, मि० खरे, सर गोकुलदास पारिख और सर

भालचंद्र कृष्ण। सर नारायण गणेश चंदावरकर मि० मनमोहन घोष और मि० रामास्वामी मुदालयर के साथ सन् १८८५ में राजनीतिक कार्य के लिए इंगलैंड गए थे और वर्षों प्रेसीडेंसी असोसिएशन के मंत्री रहे थे। सन् १९०० में वे कांग्रेस के अध्यक्ष भी हुए थे। डा० बहादुरजी ने जो १८९२ में कांग्रेस में सम्मिलित हुए थे, इस सवाल को ज़ोरों से उठाया कि डाक्टरी संबंधी सरकारी नौकरियों का पुनःसंगठन होना चाहिए। अपने पक्ष का उन्हों ने बड़े उत्साह तथा योग्यता के साथ प्रतिपादन किया। उन के प्रयत्न के फल-स्वरूप इस प्रश्न की ओर काफ़ी ध्यान आकृष्ट हुआ और १८९६ में उन्हें वैलबी कमीशन के सम्मुख बयान देने के लिए भी जाना पड़ा। परंतु अभी उन की अवस्था चालीस वर्ष की भी न हो पाई थी कि देश के दुर्भाग्य से उन का निधन हो गया। जिस सुधार के लिए उन्हों ने आंदोलन उठाया था, वह आज तक भी नहीं हो पाया है। सरकार ने जनता की शिकायत को दूर करने के बजाय एक और नई शिकायत पैदा कर दी है, क्योंकि अब आई० एम० एस० में भरती प्रतियोगितापूर्ण परीक्षा के आधार पर न हो कर नामज़दगी से होने लगी है। इन सब बुराइयों का मुख्य कारण यही है कि भारत की सरकार राष्ट्रीय सरकार नहीं है। मि० तिलक के संबंध में कुछ विस्तारपूर्वक कहने की आवश्यकता है, परंतु उस का उल्लेख अगले परिच्छेद में अधिक उपयुक्त होगा।

सुरेंद्रनाथ बनर्जी

बंगाल में इस काल के तथा अगले काल के भी कार्यकर्ताओं में प्रमुख स्थान निस्संदेह सुरेंद्रनाथ बनर्जी का है। अपनी युवावस्था में वे उन इने-गिने भारतीयों में थे जिन का आई० सी० एस० में प्रवेश हो सका था, परंतु दुर्भाग्य से चंद साल के अंदर ही एक ज़रा सी ग़लती की वजह से उन्हें बर्ख़ास्त कर दिया गया। इस से हानि सरकार की ही हुई और लाभ देश का। उन्हों ने अध्यापक तथा पत्रकार का काम शुरू किया और वे सार्वजनिक जीवन में

भी सक्रिय रूप से भाग लेने लगे। सब से पहले ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने उन के प्रति सद्भावना का परिचय दिया और उन्हें उस कालेज में प्रोफ़ेसर नियुक्त कर दिया जो उस समय मेंट्रोपोलीटन इंस्टीट्यूशन कहलाता था और अब विद्यासागर कालेज के नाम से ख्यात है। बाद को वे वर्षों रिपन कालेज में अंग्रेज़ी के प्रोफ़ेसर रहे। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उन्हों ने मि० उमेशचंद्र बनर्जी से 'बंगाली' ले लिया और सत्रह वर्ष तक उसे साप्ताहिक के रूप में निकाल कर फिर उसे दैनिक कर दिया। मि० आनंदमोहन बोस के सहयोग से उन्हों ने इंडिअन असो-सिएशन की स्थापना की जो आज भी जीवित तथा सजीव है (अब एक लिबरल संस्था के रूप में) । सन् १८८६ में कलकत्ता में होनेवाले दूसरे अधिवेशन के अवसर पर वे कांग्रेस में सम्मिलित हुए और तत्काल ही उस के मान्य नेताओं में गिने जाने लगे। अध्यक्ष कोई हो, प्रति वर्ष कांग्रेस में प्रमुख व्यक्ति वही दिखाई पड़ते थे। सुरेंद्रनाथ महान वक्ता थे। सर फ़ीरोज़शाह मेहता जिसे भाषण-कला की अद्भुत तथा अद्वितीय शक्ति कहा करते थे, उस में वे केवल मि० लालमोहन घोष से ही कम थे। और जनता को प्रभावित कर सकने की शक्ति में तो वे उन से भी बढ़ कर थे। सर हैनरी कॉटन ने अपनी पुस्तक 'न्यू इंडिआ' (नवीन भारत) में लिखा था कि मुलतान से ले कर चिटगाँव तक सुरेंद्रनाथ बनर्जी अपनी वाग्शक्ति से विद्रोह खड़ा कर सकते तथा उसे दबा सकते हैं। दो बार वे कांग्रेस के अध्यक्ष हुए और दोनों बार उन्हों ने अपनी स्मरण शक्ति का अद्भुत चमत्कार दिखाया। दोनों बार उन का भाषण काफ़ी लंबा था, भाषण करते समय उन्हों ने उस की छपी हुई प्रति हाथ में नहीं ली, परंतु फिर भी उन के मौखिक भाषण तथा छपे हुए भाषण में एक शब्द का भी अंतर नहीं पड़ा। भारत के काम से वे चार बार इंगलैंड गए और प्रत्येक बार उन के भाषणों की बड़ी प्रशंसा हुई। सन् १९१९ में मैं ने स्वयं देखा था (इंगलैंड में) कि किस प्रकार

उन्हों ने अपने एक भाषण से मांटेगू बिल के विरोधियों को उस का समर्थक बना दिया था। वर्षों वे बंगाल कौंसिल के परम प्रतिष्ठित सदस्य रहे और बाद को इंडिअन लेजिस्लेटिव कौंसिल के सदस्य हो गए। अपने आत्म-चरित में जो कि उन के स्वर्गवास से कुछ ही पहले प्रकाशित हुआ था, उन्हों ने अपने पचास वर्ष के सार्वजनिक जीवन की कथा कही है। वे इस बात के अधिकारी हैं कि उन्हें आधुनिक बंगाल के निर्माताओं में स्मरण किया जाय। मांटेगू सुधारों के जारी होने पर जो मिनिस्टर नियुक्त किए गए उन में वे भी थे। इस हैसियत से उन्हों ने कलकत्ता म्यूनिसिपैलिटी को स्वराज्य का अधिकार दिलाया जिससे कि वह १८९९ में वंचित कर दी गई थी। भारत की राजनीतिक तथा राष्ट्रीय उन्नति की कथा में जिन नामों को कोई नहीं भुला सकता, उन में सुरेंद्रनाथ बनर्जी का भी नाम है।

बंगाल के अन्य नेता

इस काल के अन्य प्रतिष्ठित बंगाली राजनीतिज्ञों में सब से पहला स्थान मि० उमेशचंद्र बनर्जी का है जो दो बार कांग्रेस के अध्यक्ष हुए थे। वे कलकत्ता हाईकोर्ट के चोटी के वकील थे और उन में ठीक निर्णय करने की असाधारण शक्ति थी। मि० मनमोहन घोष ने न्याय-विभाग तथा शासन-विभाग का पृथक्करण कराने के लिए जो प्रयत्न किए थे, उन्हें आज भी नहीं भुलाया जा सकता। मि० रमेशचंद्र दत्त सन् १८९८ में आई० सी० एस० से अवकाश ग्रहण करने के बाद सार्वजनिक जीवन में आए और सन् १८९९ में लखनऊ कांग्रेस के अध्यक्ष हुए। उन की अनेक पुस्तकों में से 'अंग्रेजी राज्य में भारत,' 'विक्टोरियन युग में भारत,' 'भारत में अकाल और भूमि कर' नाम की पुस्तकें भारतीय राजनीति के विद्यार्थियों के लिए विशेष उपयोगी हैं।

आनंदमोहन बोस

सच्ची लगन से काम करनेवालों में आनंदमोहन बोस का स्थान केवल सुरेंद्रनाथ बनर्जी के ही बाद है। वे बड़े सुंदर वक्ता थे, सिटी कालेज के जन्मदाता थे, साधारण ब्रह्म-समाज

के संस्थापकों में थे और राजनीतिक उन्नति की भाँति ही समाज-सुधार के कामों में भी उन्हें बड़ा अनुराग था। लार्ड रिपन की आनंदमोहन बोस की बाबत इतनी अच्छी राय थी कि जब उन की अवस्था केवल ३४ वर्ष की थी तभी उन्हों ने उन्हें सन् १८८२ के इंडिअन एजूकेशन कमीशन का अध्यक्ष-पद ग्रहण करने के लिए निमंत्रित कर दिया था लेकिन मि० बोस ने कहा कि एक भारतीय की अध्यक्षता में कार्य करनेवाले कमीशन की रिपोर्ट का सरकार पर उतना प्रभाव न पड़ेगा जितना एक उच्च अंग्रेज़ अधिकारी के अध्यक्ष होने पर। अतः उन्हों ने कमीशन की अध्यक्षता के बजाय सदस्यता ही स्वीकार की। बुद्धिबल में मि० बोस अपने किसी भी समकालीन से कम नहीं थे और अगर वे किसी भी एक दिशा में अपनी शक्ति लगा देते तो उस में सर्वोच्च स्थान पर पहुँच जाते। परंतु उन के साले सर जगदीशचंद्र बोस के शब्दों में उन का देश-प्रेम इतना प्रबल था कि उन्हों ने राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में देश की सेवा कर सकने के लिए अपनी प्रतिभा के टुकड़े-टुकड़े कर डाले। एक और प्रमुख नेता बाबू कालीचरण बनर्जी थे। ईसाई होते हुए भी उन के शरीर का रोम-रोम राष्ट्रवादी था। वे भी बड़े प्रभावशाली वक्ता थे और कांग्रेस के बड़े भक्त थे। यह एक संयोग की ही बात थी कि वे उस के अध्यक्ष न बन पाए। सर रासविहारी घोष ने उन के संबंध में ठीक ही कहा था कि 'हृदय में यह विचार उठे बिना नहीं रहता कि कालीचरण बनर्जी की क़ब्र में कितनी विद्या, कितनी सादगी, कितनी धार्मिकता, कितनी दयालुता और कितनी देश-भक्ति समाधिस्थ है।'

सुब्रह्मण्य ऐयर

मद्रास में प्रमुख कार्यकर्ता मिस्टर जी० सुब्रह्मण्य ऐयर थे। उन्हों ने 'हिंदू' के द्वारा, कांग्रेस के द्वारा और महाजन सभा के द्वारा मद्रास के लिए वही कार्य किया जो सुरेंद्रनाथ बनर्जी और मोतीलाल घोष ने बंगाल के लिए तथा वाछा, तिलक और

गोखले ने बंबई के लिए किया था। वे अपनी पीढ़ी के सब से महान भारतीय पत्रकार थे और उन के लेखों के सब से बड़े प्रशंसक थे मि० ह्यूम। ह्यूम ने उन्हें एक पत्र में लिखा था कि आपके लेख 'लंदन टाइम्स' की भी शोभा बढ़ा सकते हैं। वे पार्लामेंट के मेंबरों में, उन मेंबरों में जो भारत के प्रति किसी भी प्रकार की सहानुभूति रखते थे, बाँटने के लिए 'हिंदू' की पचास कापियां ख़रीदा करते थे। फ़ीरोज़शाह मेहता और दीनशा वाछा उन के समान रूप से प्रशंसक थे और मि० गोखले ने एक बार मुझ से कहा था कि भारत के किसी अन्य पत्रकार को सार्वजनिक प्रश्नों की उतनी अच्छी जानकारी नहीं है जितनी सुब्रह्मण्य ऐयर को है। इसी लिए उन्हें वेल्बी कमीशन के सामने बयान देने के लिए निमंत्रित किया गया था। सुब्रह्मण्य ऐयर पक्के समाज-सुधारक भी थे। वे कांग्रेस के अध्यक्ष नहीं हुए परंतु होने योग्य थे। 'अंग्रेज़ी शासन के कुछ आर्थिक पहलू' नाम की उन्हों ने एक बड़ी उपयोगी पुस्तक लिखी थी।

मद्रास के अन्य उल्लेखनीय कार्यकर्ताओं के नाम इस प्रकार हैं :— सर एस० सुब्रह्मण्य ऐयर जो अपनी बुद्धिमत्ता तथा दानशीलता के लिए प्रसिद्ध थे, मि० आनंद चार्लू जो बड़ी ही स्वतंत्र प्रवृत्ति के थे, सर शंकरन नायर जिन्हों ने एक कठिनाई की स्थिति में कांग्रेस के अध्यक्ष पद से बड़ा श्रेष्ठ भाषण किया था, मि० विजयराघवाचार्य जो अपनी निर्भीकता के लिए विख्यात थे, योग्य और बुद्धिमान सुब्बाराव पंतूलू, 'हिंदू' के मि० वीरराघवाचार्य, गूटी के दीवान बहादुर केशव पिल्लई, मि० रंगैया नायडू जो वर्षों तक महाजन सभा के अध्यक्ष रहे थे और १८९४ की कांग्रेस के स्वागताध्यक्ष थे, तंजोर के मि० स्वामीनाथ ऐयर और कोकनद के मि० वेंकटरत्नम और मि० पिरांजू।

इसी काल के पिछले भाग में मेरे कृपालु मित्र मि० कृष्णस्वामी ऐयर ने ख्याति प्राप्त की। मद्रास प्रांत में उन के समान दूसरा प्रतिभाशाली व्यक्ति मेरी जानकारी में

कृष्णस्वामी ऐयर

नहीं हुआ। भारत भर के अन्यतम प्रतिभाशाली व्यक्तियों में भी उन की गणना थी। बात को जल्दी समझने में वे एस्क्विथ के समान थे और विचारशक्ति में लार्ड हालडेन के। उन का भाषण बड़ा ज़ोरदार और स्पष्टवादितापूर्ण होता था। वाद-विवाद में भी वे अत्यंत पटु थे। बुद्धिमत्ता, साहस, सेवा की भावना तथा उदारता, सभी गुण उन में समान रूप से विद्यमान थे। फ़ीरोज़शाह मेहता बंबई के, अयोध्यानाथ संयुक्त प्रांत के और लाजपतराय पंजाब के सिंह कहलाते थे। अगर मद्रास का सिंह किसी को कहा जा सकता है तो कृष्णस्वामी ऐयर को ही। एक बार मि० गोखले ने, जिन्हें उन के साथ एक कमेटी में काम करना पड़ा था, कहा था कि "कृष्णस्वामी ऐयर का दिमाग़ मेरे दिमाग़ से दूनी तेज़ी से काम करता है, इस लिए उन का साथ देना मेरे लिए आसान नहीं है।" उन के स्वर्गवास के अवसर पर मि० गोविंदराघव ऐयर ने कहा था कि "उन के स्थान की पूर्ति कर सकनेवाला दूसरा व्यक्ति, कम से कम इस प्रांत में तो, वर्षों तक न होगा।" उस दुःखद घटना को अब लगभग २४ वर्ष बीत चुके और मेरा विचार है कि उन के रिक्त स्थान की आज भी पूर्ति नहीं हुई है।

अयोध्यानाथ

संयुक्त प्रांत में पंडित अयोध्यानाथ का असामयिक निधन हो जाने के कारण उन का सार्वजनिक जीवन लंबा तो नहीं हो सका, परंतु जितना भी था, था बड़ा प्रतिष्ठापूर्ण। उन का व्यक्तित्व बड़ा ज़ोरदार था और निर्भयता में तो उन का कोई सानी ही नहीं था। वे जन्मसिद्ध नेता थे। सौभाग्य से वे मेरे मित्र तथा सहयोगी पंडित हृदयनाथ कुंज़रू जैसा सुपुत्र छोड़ गए हैं, जिन के लिए उन के गुरु मि० गोखले ने यह भविष्यवाणी की थी कि "आज तो लोग हृदयनाथ को पंडित अयोध्यानाथ का पुत्र कह कर जानते हैं, परंतु एक दिन आएगा जब लोग पंडित अयोध्यानाथ को हृदयनाथ का पिता कह कर जानेंगे।" जिस किसी को भी मि० कुंज़रू

के गौरवपूर्ण सार्वजनिक जीवन की जानकारी है, उसे इस बात में संदेह न होगा कि मि० गोखले की भविष्यवाणी पूरी हुई जा रही है। पंडित विश्वंभरनाथ पंडित अयोध्यानाथ की भाँति प्रतिभाशाली न होते हुए भी उन से बड़े थे और उन से पहले ही कांग्रेस में सम्मिलित हुए थे। सन् १९०७ में ७६ वर्ष की अवस्था में उन का स्वर्गवास हुआ और अपने अंतिम समय तक वे कांग्रेस के प्रति वफ़ादार रहे। लखनऊ के पंडित विशननरायन दर बड़े ही विद्वान परंतु बड़े ही संकोची सज्जन थे। वे इतने अच्छे लेखक थे कि उन की लिखी हुई कुछ चीज़ें आज भी जीवित हैं। अगर उन का स्वास्थ्य कुछ अच्छा होता और अगर उन में संकोच की मात्रा कुछ कम होती तो देश में उन की और अधिक ख्याति हुई होती। उसी नगर के बाबू गंगाप्रसाद वर्मा साधारण स्थिति में जीवन प्रारंभ कर के अपने ही परिश्रम से प्रतिष्ठित व्यक्ति बने थे। अपने सद्गुणों के कारण ही उन्हों ने सार्वजनिक जीवन में एक प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त कर लिया था। जो कोई भी उन्हें जान जाता था, उन का सम्मान करने लगता था। सन् १९१४ में केवल ५१ वर्ष की अवस्था में उन का निधन हो गया और उन के नगर तथा प्रांत को ऐसा धक्का लगा जिस से वे आज भी पूरी तरह नहीं सँभल पाए हैं। यह कहना ठीक ही है कि लखनऊ में उन्हों ने अपना कोई उत्तराधिकारी नहीं छोड़ा।

मदनमोहन मालवीय

संयुक्त प्रांत के प्रमुख सार्वजनिक कार्यकर्ता पंडित मदनमोहन मालवीय थे और अब भी हैं। यह उन की एक विशेषता है कि अपने सार्वजनिक जीवन के प्रायः प्रारंभ से ही उन्हें नेता स्वीकार कर लिया गया था। मि० ह्यूम के वे कृपापात्रों में थे। वर्षों तक संयुक्त प्रांत में कांग्रेस का झंडा उन्हों ने और बाबू गंगाप्रसाद वर्मा ने ही ऊँचा रक्खा था। वे बड़ी धार्मिक प्रवृत्ति के हैं और उन का जीवन बड़ी धर्मप्रियता, सज्जनता, सरलता और निस्पृहता का जीवन रहा है। उन का स्वास्थ्य बहुत अच्छा कभी नहीं रहा,

फिर भी उन्हों ने कभी कार्य से विश्राम नहीं लिया और उन का कार्य सदा सार्वजनिक कार्य ही रहा है। अब उन की अवस्था ७४ वर्ष की है और उन का स्वास्थ्य भी बहुत कमज़ोर हो गया है, फिर भी वे उतने ही क्रियाशील बने हुए हैं जितने ५२ वर्ष पूर्व सार्वजनिक जीवन में प्रवेश करने के समय वे थे। दो बार वे कांग्रेस के अध्यक्ष हो चुके हैं और अब भी उस में हैं, यद्यपि इस बात में संदेह ही है कि अब वे वास्तव में कांग्रेस के हैं। उन्हों ने देश को अनेक संस्थाएं प्रदान की हैं जिन में काशी का हिंदू विश्वविद्यालय सब से महान है। यह मालवीय जी के जीवन की महानता का अमर स्मारक है।

अंग्रेज़ मित्र

भारत के इस काल के अंग्रेज़ मित्रों में मि० ह्यूम और सर विलिअम वैडरबर्न के बाद मि० केन और मि० विलिअम डिगबी का उल्लेख आवश्यक है। मि० केन ने पार्लामेंट के द्वारा, कांग्रेस की ब्रिटिश कमेटी के द्वारा और इंडिअन पार्लामेंटरी कमेटी के द्वारा तथा स्वयं ही स्थापित की हुई एक संस्था के द्वारा भारत की सेवा की। इस संस्था का उद्देश्य शराबख़ोरी तथा नशाबाज़ी में कमी कराने का प्रयत्न करना था और भारत के एक अन्य सच्चे मित्र मि० सेमुअल स्मिथ उस के प्रधान थे। मि० सेमुअल स्मिथ सन् १९०६ में कलकत्ता में होनेवाली मादक-वस्तु-विरोध संबंधी एक अखिल भारतीय कान्फ़रेंस के सभापति का आसन ग्रहण करने को आए थे, परंतु कान्फ़रेंस से पहली रात को नींद ही में उन का निधन हो गया। मि० डिगबी उन थोड़े से अंग्रेज़ पत्रकारों में थे जिन्हों ने भारत के कार्य को पूरी तरह अपना लिया था। वर्षों तक उन्हों ने बड़ा उपयोगी कार्य किया। 'समृद्धिशाली भारत' शीर्षक उन की पुस्तक बड़ी महत्वपूर्ण थी। अगर कोई इस बात को पूरी तरह समझना चाहता है कि ब्रिटिश शासन में भारत कितना निर्धन रहा है और विदेशी शासन से भारत की कितनी आर्थिक क्षति हुई है, तो उसे दादाभाई नौरोजी और मि० डिगबी की किताबों को पढ़ना चाहिए।

समाचार-पत्र

कांग्रेस के प्रथम बीस वर्षों में समाचार-पत्रों ने बड़ी उन्नति की। 'हिंदू', 'अमृतबाज़ार पत्रिका' और 'बंगाली' दैनिक पत्र हो गए। देशी भाषाओं के पत्रों की संख्या भी बढ़ी और उन की लोकप्रियता तथा उपयोगिता में भी वृद्धि हुई। मि० परमेश्वरन पिल्लई ने 'मद्रास स्टैंडार्ड' ले लिया और अपने जीवन के शेष वर्षों तक जो अधिक नहीं थे, उस का बड़ी योग्यता से संचालन किया। मि० पिल्लई बड़े उत्साही कांग्रेसवादी थे। श्री जी० सुब्रह्मण्य ऐयर ने सन् १९०३ में 'यूनाइटेड इंडिया' नाम का एक अंग्रेज़ी साप्ताहिक पत्र निकाला जो बड़ा अच्छा था। उन्हों ने तामिल के 'स्वदेशमित्रन' का भी संपादन किया जो कि 'हिंदू' को छोड़ देने के बाद उन्हों ने ले लिया था। मि० एन० एन० घोष का 'इंडिअन नेशन' और मि० मालाबारी का 'इंडिअन स्पेक्टेटर'—ये क्रमशः कलकत्ता और बंबई से निकलते थे और देश भर के साप्ताहिक पत्रों में सब से अधिक विचारशील थे। इलाहाबाद से 'इंडिअन यूनिअन' नामक पत्र निकला जिस का पहले पंडित मदनमोहन मालवीय ने और फिर मेरे मित्र बाबू ब्रह्मानंद सिंह ने संपादन किया, लेकिन वह चंद साल से ज़्यादा नहीं चल सका। इस समय संयुक्त प्रांत का मुख्य पत्र बाबू गंगाप्रसाद वर्मा का 'एडवोकेट' था जिस में पंडित बिशननरायन दर के भी अनेक सुंदर लेख निकले थे। सन् १९०३ में मि० सच्चिदानंद सिंह ने इलाहाबाद से 'इंडिअन पीपुल' निकाला, जो बाद को 'लीडर' में सम्मिलित कर दिया गया। पंजाब में 'ट्रिब्यून' ने मिस्टर एन० गुप्त के संपादकत्व में बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त की और वह देश के प्रमुख पत्रों में गिना जाने लगा। जब सर डैनिस फ़िट्ज़-पैट्रिक पंजाब के लेफ़्टिनेन्ट-गवर्नर थे, 'ट्रिब्यून' का प्रभाव इतना बढ़ गया था कि लाहौर के एंग्लो-इंडिअन पत्र 'सिविल ऐंड मिलिटरी गज़ट' ने एक बार प्रश्न किया था कि पंजाब में किस का शासन है—सर डैनिस का या 'ट्रिब्यून' का ?

तृतीय परिच्छेद

बंग-भंग और उस के बाद

(१९०५—१९१९)

सन् १९०५ से लेकर अगले पंद्रह वर्षों में जो राजनीतिक परिस्थिति रही, उस का आरंभ चंद साल पहले हो चुका था। भारतीय राजनीति में उग्रता के स्वर ने प्रथम बार सन् १९०२ में ध्यान आकृष्ट किया था। बाबू बिपिनचंद्र पाल ने, जो कि सन् १८८७ के मद्रास वाले अधिवेशन में कांग्रेस में सम्मिलित हुए थे, 'न्यू इंडिआ' पत्र में जिस के वे संपादक थे राजनीतिक आंदोलन के उस ढंग का विरोध करना शुरू किया जो उस समय प्रचलित था। सब से पहले महाराजा नाटोर ने, जो सन् १९०१ में कलकत्ता कांग्रेस के स्वागताध्यक्ष रह चुके थे, यह कहा था कि वैध आंदोलन "राजनीतिक भिखारीपन" है। आगे चल कर इसी स्वर में मिस्टर चौधुरी (बाद को न्यायमूर्ति सर आशुतोष चौधुरी) ने सन् १९०४ में बर्दवान में बंगाल प्रांतीय कान्फ़रेंस के अध्यक्ष-पद से भाषण करते हुए कहा कि 'पराधीन जाति की कोई राजनीति नहीं होती।' इन अधैर्य-सूचक वाक्यों का कारण लार्ड कर्ज़न की वह नीति थी जिस ने लोकमत को, विशेष कर बंगाल में,

बंग-भंग

उत्तेजित कर दिया था। इस समय तक वंग-भंग की आयोजना की बात शुरू हो चुकी थी। जब अगले वर्ष (सन् १९०५ में) उसे कार्य-रूप में परिणत कर दिया गया, और वह भी प्रस्तावित रूप से भी अधिक असंतोष-जनक रूप में, तो बंगाल की जनता क्षोभ तथा रोष के कारण पागल-सी हो उठी। और जैसे वंग-भंग स्वयं काफ़ी न हो, पूर्वीय बंगाल के नए प्रांत के प्रथम लेफ़्टिनेंट-गवर्नर सर बैंफ़िल्ड फुलर ने स्पष्ट रूप से ऐसी नीति की घोषणा कर दी जो मुसलमानों के प्रति पक्षपातपूर्ण तथा हिंदुओं के लिए हानिकारक थी और हिंदुओं का अपमान तथा दमन प्रारंभ हो गया। बंगाल की जनता ने अपनी शिकायत की ओर इंगलैंड का ध्यान आकृष्ट करने के लिए ब्रिटिश माल के बहिष्कार के अस्त्र का उपयोग किया। इसी से कांग्रेस के अंदर मतभेद का श्रीगणेश हुआ जो आगे चल कर अधिकाधिक तीव्र होता गया। कांग्रेस के अंदर इस मतभेद की प्रतिध्वनि प्रथम बार सन् १९०५ के बनारस वाले अधिवेशन में सुनाई पड़ी। गरम दल वालों का सब से पहला कार्य यह था कि उन्हों ने विषय निर्धारिणी समिति में युवराज तथा युवराज्ञी (बाद को सम्राट् पंचम जार्ज तथा महारानी मेरी) के, जो उस समय भारत आए हुए थे, स्वागत वाले प्रस्ताव का विरोध किया। लार्ड मिंटो के पत्र अभी हाल में प्रकाशित हुए हैं, जिन में एक बात यह भी कही गई है कि युवराज के बहिष्कार के आंदोलन के नेताओं में मि० गोखले भी थे। वाह! इति-हास संबंधी सच्चाई का कैसा नमूना है? कहना न होगा कि मि० गोखले उन लोगों में कदापि न थे जो युवराज तथा युवराज्ञी के सम्मान-पूर्ण तथा हार्दिक स्वागत के विरोधी थे। ऐसा कर सकना उन के स्वभाव के ही प्रतिकूल था। विषय-निर्धारिणी समिति में स्वागत के विरोधियों के नेता मि० तिलक और लाला लाजपत राय थे और जिन लोगों की वजह से उन का प्रयत्न असफल रहा उन के नेता थे मि० गोखले, मि० रमेशचंद्र दत्त और मि० सुरेंद्रनाथ बनर्जी। लेकिन कांग्रेस के इस अधिवेशन में

सब से अधिक विवादग्रस्त विषय था विलायती माल के बहिष्कार का।
परंतु अंत में बुद्धिमत्ता-पूर्ण समझौता हो गया जिस का दोनों ओर के वक्ताओं ने समान रूप से समर्थन किया। एक ओर आंदोलन का ज़ोर बढ़ने लगा और दूसरी ओर दमन का। बंगाल प्रांतीय कान्फ़रेंस के वार्षिक अधिवेशन को, जो इस वर्ष बरीसाल में एक मुसलमान सज्जन मि० रसूल की अध्यक्षता में हो रहा था, सर बैंफ़िल्ड फ़ुलर की आज्ञा से पुलिस ने रोक दिया। चंद सप्ताह पश्चात् ही उन्हों ने भारत-मंत्री मि० मॉर्ले की एक आज्ञा से असंतुष्ट हो कर लेफ़्टिनेंट-गवर्नर के पद से इस्तीफ़ा दे दिया। कांग्रेस के दोनों दलों में मतभेद बढ़ता गया और सन् १६०६ का अंत होते न होते यह बात स्पष्ट दिखाई पड़ने लगी कि इस वर्ष कांग्रेस का अधिवेशन सफलतापूर्वक केवल एक शर्त पर हो सकता है और वह यह कि ८१ वर्ष के वयोवृद्ध दादाभाई नौरोजी इंगलैंड से उस का सभापतित्व करने के लिए आवें। उस वर्ष उन की अध्यक्षता में कलकत्ता में जो कांग्रेस का अधिवेशन हुआ वह वास्तव में महान था, परंतु मैं ने जितने अधिवेशन देखे हैं उन में और कभी भी कमेटी में हो-हल्ला तथा विद्रोह की वैसी भावना नहीं देखी जैसी वहां दिखाई पड़ी। अधिक वय वाले नेताओं के प्रति जैसी अशिष्टता प्रदर्शित की गई, वह कष्टजनक थी। असहनशीलता का बोलबाला था। पुराने से पुराने और प्रतिष्ठित से प्रतिष्ठित नेताओं के लिए भी भाषण दे सकना बड़ा कठिन कार्य हो गया और बहुतेरों को तो अपनी बात कह सकना असंभव ही हो गया। फिर समझौता हुआ जो कि दादाभाई नौरोजी की उपस्थिति के कारण ही संभव हो सका। समझौते की बदौलत उस अधिवेशन की तो रक्षा हो गई, परंतु उस का परिणाम अच्छा न निकला क्योंकि दोनों दलों ने उस के भिन्न-भिन्न अर्थ लगाए। इस के बाद साल भर तक पुराने नेताओं के विरुद्ध कटुतापूर्ण आंदोलन जारी रहा, जिस के मुख्य नेता थे मि० तिलक।

सन् १९०७

सन् १९०७ का वर्ष बड़ा संकटपूर्ण साबित हुआ। संकट का केंद्र था पंजाब। उस के लेफ़्टिनेंट-गवर्नर सर डेनज़िल इबेटसन की नीति प्रतिक्रियावादी थी और उन के कार्य क्रोध उत्पन्न करनेवाले थे। प्रवास संबंधी बिल तथा अन्य कारणों से घोर असंतोष उत्पन्न हुआ। और सरकार ने आंदोलन का जवाब यह दिया कि लाला लाजपत राय तथा एक अन्य व्यक्ति को निर्वासित कर दिया गया, रावलपिंडी में बहुसंख्यक प्रतिष्ठित मनुष्यों पर मुक़दमे चलाए गए और 'राजद्रोही' सभाओं को रोकने के लिए आर्डीनेंस जारी कर दिया गया। बाद को यह बिल स्थायी क़ानून बना दिया गया। शांति की स्थापना तभी हो सकी जब कि प्रवास अथवा उपनिवेश संबंधी बिल को लार्ड मिंटो ने रद्द कर दिया। बंगाल में बंग-भंग के विरुद्ध आंदोलन ज़ोरों से जारी रहा। संपादकों पर ख़ूब मुक़दमे चले और उन्हें कड़ी-कड़ी सज़ाएं मिलीं। मि० तिलक की अध्यक्षता में गरम दल के आंदोलन की मात्रा भी बढ़ी और कटुता भी और वह सारे देश में फैल गया। पूर्वीय बंगाल में सर बैंफ़िल्ड फ़ुलर के उत्तराधिकारी तथा अन्य अधिकारियों ने मुसलिम पक्षपात की नीति जारी रक्खी और उस प्रांत में घोर सांप्रदायिक दंगे हुए जो देश के लिए लज्जाजनक थे। पक्षपात की नीति इस चरम सीमा को पहुँच गई कि एक सेशन जज ने एक मामले में गवाहों का हिंदू गवाहों और मुसलमान गवाहों में वर्गीकरण किया और मुसलमानों की गवाही को अधिक विश्वसनीय माना क्योंकि वे मुसलमान थे। एक स्थान पर कुछ मुसलमानों ने ढोल बजा कर यह घोषणा की कि सरकार ने उन्हें हिंदुओं को लूट लेने की आज्ञा दे दी है। एक अन्य स्थान पर कुछ मुसलमानों ने सरे आम यह ऐलान किया कि सरकार ने मुसलमानों को हिंदू विधवाओं से निकाह कर लेने की इजाज़त दे दी है। एक बार एक लाल पर्चा मुसलमानों में भारी संख्या में वितरित हुआ जिस में ऐसी भद्दी बातें कही गई थीं कि उन का उल्लेख न करना

ही ठीक होगा और उस के बाद ही एक भयानक दंगा हो गया। साल के अंत तक पंजाब में तो शांति हो गई और छः महीने के निर्वासन के पश्चात् लाला लाजपत राय भी मुक्त कर दिए गए, परंतु बंगाल में अशांति जारी रही। सारे देश में उत्तेजना फैली हुई थी। कांग्रेस का अधिवेशन नागपुर में होने वाला था, परंतु स्वागत-समिति की जो बैठक अध्यक्ष का निर्वाचन करने के लिए हुई, उसी में गड़बड़ हो गई और निर्वाचन न हो सका। इस के फल-स्वरूप कांग्रेस का अधिवेशन सूरत में करने का निश्चय हुआ। वहां के कांग्रेसवादियों ने बड़े थोड़े समय में भारी तैयारियां कीं, परंतु वहां अधिवेशन होना बदा न था। अधिवेशन प्रारंभ हुआ परंतु अध्यक्ष महोदय अपने भाषण का प्रारंभिक अंश भी न पढ़ सके थे कि उपद्रव मच गया और अधिवेशन की इतिश्री हो गई। दोनों दलों के बीच बड़ी कटुता उत्पन्न हो गई थी और लोकमत में भी भारी मतभेद उत्पन्न हो गया था।

स्वराज्य

पुराने दल ने वहीं सभा कर के एक कमेटी क़ायम की जिस ने चार महीने बाद इलाहाबाद में बैठक कर के कांग्रेस के लिए एक विधान तैयार किया। विधान की पहली धारा इस प्रकार थी :—

इंडिअन नेशनल कांग्रेस का ध्येय यह है कि भारत में उसी प्रकार की शासन-प्रणाली स्थापित हो जाय जैसी ब्रिटिश साम्राज्य के स्वराज्य-प्राप्त अंगों में स्थापित हो चुकी है और भारत की जनता को साम्राज्य के अधिकारों तथा उस की ज़िम्मेदारियों में बराबरी के आधार पर भाग लेने का अवसर मिले। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए वर्तमान शासन-प्रणाली में लगातार सुधार करा के, राष्ट्रीय एकता तथा सार्वजनिक भावना का विकास कर के तथा देश के बौद्धिक, नैतिक, आर्थिक तथा औद्योगिक साधनों का संगठन कर के वैध उपायों से प्रयत्न किया जायगा।

अगर में भूल नहीं रहा हूं तो 'स्वराज्य' शब्द का प्रयोग सब से पहले श्री तिलक ने पिछली शताब्दी के अंतिम दशक में किया था, परंतु वह फैला नहीं। उसी समय के आस-पास ही श्री तिलक ने ही स्वदेशी आंदोलन की भी आवाज़ उठाई थी, परंतु उस समय इस की ओर भी जनता ने कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। स्वराज्य पर सब से पहला निबंध श्री गोखले का था जो उन्हों ने लंदन की एक सभा के सम्मुख पढ़ा था। सन् १९०४ में कांग्रेस के अध्यक्ष पद से भाषण करते हुए सर हैनरी कॉटन ने भारतीय देशभक्तों के ध्येय की इस प्रकार व्याख्या की थी कि भारत के अंदर स्वतंत्र राष्ट्रों की स्थापना हो जाय जो मिल कर संयुक्त राष्ट्र, भारत कहलावेंगे; उन का ब्रिटिश साम्राज्य के स्वराज्य-प्राप्त उपनिवेशों के साथ बराबरी का दर्जा रहेगा; सब को अपने-अपने मामलों में स्वतंत्रता रहेगी और सब ब्रिटेन के नेतृत्व में एकता के सूत्र में बँधे रहेंगे। सर हैनरी ने इस से कुछ ही समय पूर्व नौकरी से अवकाश ग्रहण किया था। उन्हों ने आसाम में गोरे खेतहरों के विरुद्ध क़ुलियों के पक्ष का समर्थन किया था, जिस से असंतुष्ट हो कर लार्ड कर्ज़न ने उन्हें बंगाल का लेफ़्टिनेंट-गवर्नर नहीं बनने दिया। सन् १९०५ की कांग्रेस के अध्यक्ष श्री गोखले ने कांग्रेस के ध्येय की व्याख्या इस प्रकार की थी कि भारत में क्रमशः वैसी ही शासन-प्रणाली स्थापित हो जानी चाहिए जैसी ब्रिटिश साम्राज्य के स्वराज्य-प्राप्त उपनिवेशों में है। सन् १९०६ की कांग्रेस के अध्यक्ष दादाभाई नौरोजी ने कांग्रेस के आदर्श की यह स्पष्ट घोषणा की कि ब्रिटेन अथवा उपनिवेशों जैसे स्वराज्य की प्राप्ति। उन के भाषण को बाबू सुरेंद्रनाथ बनर्जी ने भारत का राजनीतिक धर्म-ग्रंथ कहा था। अस्तु, जो बात अब तक केवल भाषणों में ही कही गई थी, उसे सन् १९०८ के विधान द्वारा प्रामाणिक और निश्चित रूप से कांग्रेस का आदर्श घोषित कर दिया गया।

नए विधान के अनुसार कांग्रेस का पहला अधिवेशन, मि० कृष्ण-स्वामी ऐयर की बदौलत, मद्रास में हुआ। सन् १९१५ तक कांग्रेस इसी विधान के अनुसार चलती रही। १९१५ के अध्यक्ष सर सत्येंद्र सिनहा (बाद को लार्ड सिनहा) थे, जिन्हों ने कांग्रेस के ध्येय की व्याख्या एब्राहम लिंकन के प्रसिद्ध शब्दों में इस प्रकार की—जनता का शासन जनता के लाभार्थ जनता द्वारा होना चाहिए। इस बीच नए और पुराने दलों का वाद-विवाद लगातार चलता रहा। कभी उस में तीव्रता आ जाती थी और कभी वह हलका पड़ जाता था, परंतु उस का अंत कभी नहीं हुआ। नए दल वाले विधान के निर्माण के बाद कांग्रेस में सम्मिलित नहीं हुए। उन का कांग्रेस से लगातार बाहर रहना इस बात का उदाहरण था, और इधर लिबरलों का कांग्रेस से अलग रहना भी इसी बात का दूसरा उदाहरण है, कि कांग्रेस एक आंदोलनकारी संस्था है जिस के अंदर एक से अधिक दलों के लिए स्थान नहीं है। एक आंदोलनकारी संस्था और एक व्यवस्थापिका सभा की स्थिति में अंतर है। व्यवस्थापिका सभा जो क़ानून पास करती है वे सभी पर लागू होते हैं और जो टैक्स लगाती है वे सभी को चुकाने पड़ते हैं, इस लिए उस में सभी विचारों के प्रति-निधियों का उपस्थित रहना आवश्यक है। लेकिन कांग्रेस का कार्य कुछ विशेष विचारों का प्रचार करना तथा उन के लिए आंदोलन करना है, इस लिए उस के अंदर विभिन्न स्वरों में बोलने वाले दलों की उपस्थिति उस के कार्य में बाधा ही डाल सकती है। जब कांग्रेस संयुक्त संस्था के बजाय एक दल की संस्था रह गई तो उस के प्रति जनता का उत्साह मंद पड़ गया, परंतु ज्यों-ज्यों वर्ष पर वर्ष बीतते गए त्यों-त्यों उस के झंडे के नीचे एकत्र होनेवालों की संख्या फिर से बढ़ती गई।

नए और पुराने दल

फिर भी यह बात स्वीकार करनी होगी कि साधारण जनता का झुकाव नए दल की ओर अधिक था। उस में अपेक्षाकृत कम अवस्था-

वाले लोगों की संख्या अधिक थी, जो उत्साह और जोश से भरे हुए थे। पुराने दल वालों की अपेक्षा उन की बातों का लोगों पर ज़्यादा असर पड़ता था। उन की बातों का सारांश यह होता था—'तुम्हारी शिकायतें वाजिबी हैं, लेकिन वे दूर नहीं की जातीं। तुम निर्धन बना दिए गए हो, तुम में से बहुतेरों को पेट भर कर भोजन नहीं मिलता। शिक्षित मनुष्यों को अपनी योग्यता का उपयोग करने के लिए यथेष्ट क्षेत्र नहीं मिलता। अधिकारी वर्ग जनता का अपमान करता है और उसे क्षुद्र समझता है। यह सब क्यों? क्योंकि सरकार विदेशी है। इस का इलाज क्या है? उस की जगह अपनी सरकार क़ायम करना।' पुराने दल के नेताओं को यह समझाना पड़ता था कि वे देश के सामने वीरतापूर्ण कार्य-क्रम क्यों नहीं रखते। उन्हें विदेशी शासन की बुराइयों के साथ ही अपने देश-वासियों की कमियों का भी उल्लेख करना पड़ता था। श्री गोखले परिस्थिति की व्याख्या इस प्रकार किया करते थे—विदेशी शासन निस्संदेह बुरा है, परंतु वह संभव ही क्यों हुआ? अगर इस देश के निवासियों में कोई भारी कमी न होती तो क्या कोई भी विदेशी इस देश में अपना शासन स्थापित कर सकते थे? क्या यह ऐतिहासिक सत्य नहीं है कि विदेशी शासन रूपी बुराई इसी लिए संभव हुई कि हमारे अंदर पहले ही से कुछ बुराइयां मौजूद थीं? क्या हम उन बुराइयों को दूर कर सके हैं? क्या स्वराज्य प्राप्त कर सकने अथवा प्राप्त हो जाने पर उस की रक्षा कर सकने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि हम उन बुराइयों को दूर कर लें?

साधारण जनता की मनोवृत्ति को समझनेवाले सभी यह जानते हैं कि वह जितनी अच्छी तरह बिना अगर-मगर के कही गई सीधी बात को समझ सकती है, उतनी अच्छी तरह पेचीदा तर्क को नहीं समझ सकती। आदर्श जितना ही सादा और ऊँचा होगा उतना ही वह उस के हृदय को अधिक प्रभावित करेगा, और जितनी ही उसे समझ सकने के लिए

प्रयत्न की आवश्यकता होगी उतना ही उस का प्रभाव कम पड़ेगा। मध्य मार्गवर्ती नेताओं के शांत, उत्तेजनाहीन, विद्वत्तापूर्ण तथा जानकारी से भरे हुए तर्क आंदोलन में उतने कारगर सिद्ध नहीं होते जितनी कि लोगों में उत्तेजना या नाराज़ी पैदा करनेवाली या उन की अहम्मन्यता को संतुष्ट करनेवाली जोशीली बातें सिद्ध होती हैं। इस के सिवाय नरम दल वालों को एक कठिनाई यह होती है कि गरम दल वाले जनता में इतनी असहनशीलता उत्पन्न कर देते हैं कि दूसरे लोगों के लिए सभाएं कर सकना और अपनी बात सुना सकना भी कठिन हो जाता है। आज के लिबरलों की, जहां तक सार्वजनिक सभाओं का संबंध है, भाषण-स्वतंत्रता नष्ट हो गई है, सरकारी क़ानूनों या आज्ञाओं के कारण नहीं बल्कि कांग्रेस के ज़्यादा जोशीले लोगों की बदौलत। गरम विचारों के लोगों के लिए अपने देशवासियों को ख़ुश कर देना बहुत आसान होता है, लेकिन नरम विचार वालों के सम्मुख सदा यह समस्या रहती है कि वे देश की भलाई की बात कहें या अपने ज़्यादा हल्ला मचानेवाले देशवासियों को ख़ुश करें। सरकार पर न्याय तथा समझदारी की बातों का इतना कम असर पड़ता है कि नरम दलवालों के लिए यह भी संभव नहीं होता कि वे अपने देशवासियों से यह कह सकें कि देखो नरमी के ढंग का इतना अधिक फल हुआ।

दमन का ज़ोर

नरम और गरम विचारों के लोगों का मतभेद वास्तव में इस प्रश्न या उस प्रश्न संबंधी मतभेद नहीं है, बल्कि स्वभाव का, दृष्टि-कोण का तथा कार्य करने के ढंगों का व्यापक मतभेद है जो सार्वजनिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वर्तमान रहता है। तब भी यही हालत थी और अब भी यही हालत है कि जो व्यक्ति जितनी ज़्यादा गरम या जोशीली बात कहता है उस का जनता पर उतना ही अधिक प्रभाव पड़ता है। यह न तब आश्चर्य की बात थी और न अब है। देश में आंदोलन पूरे ज़ोरों से चल रहा था। बंग-भंग के कारण

फैली हुई नाराज़ी जनता को शांत नहीं होने देती थी। जब खुले राजनीतिक कार्यों को दमन द्वारा रोका गया, तब आंदोलन गुप्त मार्ग खोजने लगा। बंगाल के लेफ़्टिनेंट-गवर्नर, सर एडवर्ड बेकर ने गर्वपूर्वक कहा कि हमें इस का भय नहीं है और अगर केवल राजविद्रोह का प्रचार रुक जाय तो और सब बातें ठीक हो जायँगी। बाद के वर्षों की आतंकवादियों की हिंसात्मक कार्यवाहियां इस बात का प्रमाण हैं कि सर एडवर्ड का यह अदूरदर्शिता-पूर्ण विचार कितना ग़लत था। लेखों और भाषणों पर मामले ख़ूब चलते रहे। सन् १६०८ के बीच में श्री तिलक पर फिर राजविद्रोह का मामला चला और उन्हें छः वर्ष के कारावास का दंड मिला। नए दल का कोई नेता शायद ही बचा हो। ३० अप्रैल सन् १६०८ को मुज़फ़्फ़र-पुर में पहला बमकांड हुआ। कलकत्ता के चीफ़ प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट मि० किंग्सफ़ोर्ड को, जिन्हों ने बहुत से अभियुक्तों को राजनीतिक अपराधों में जेल भेजा था, बम से मारने का इरादा था। लेकिन धोखे में मारी गईं मि० प्रिंगिल कैनेडी की पत्नी और पुत्री। मि० कैनेडी पहले उत्साही कांग्रेसी रह चुके थे। सरकार ने इस घटना के फल-स्वरूप दो नए क़ानून बनाए—एक तो विस्फोटक पदार्थों संबंधी क़ानून और दूसरा आपत्तिजनक उत्तेजन को रोकने के लिए। कलकत्ता में एक षड्यंत्र का पता लगाया गया और बहुत से मनुष्यों पर उस में सम्मिलित होने का अभियोग लगाया गया, जिन में सब से मुख्य श्री अरविंद घोष थे जिन्हें राजनीति में प्रवेश किए हुए दो ही वर्ष हुए थे।

अरविंद घोष

श्री अरविंद घोष आई० सी० एस० में प्रवेश प्राप्त करने के प्रयत्न में विफल हो कर पहले बड़ौदा में शिक्षक हुए और फिर कलकत्ता लौट कर राजनीति में भाग लेने लगे थे। वे 'वंदे-मातरम्' नामक अंग्रेज़ी पत्र का संपादन करते थे। उन का अंग्रेज़ी भाषा पर अद्भुत अधिकार है और उन के लेखों को, जो अर्द्ध-आध्यात्मिक शैली में होते थे, साहित्यिक छटा की दृष्टि से बड़े सुंदर

होते थे और राजनीतिक उत्तेजना से ओतप्रोत रहते थे, पाठक बड़े प्रशंसात्मक भाव से पढ़ते थे। लेखों में लोकमत को उत्तेजित कर सकने की शक्ति थी। श्री अरविंद घोष पर जो भयानक आरोप लगाया गया था, उस से वे सौभाग्यवश मुक्त हो गए। उन्हीं के मुक़द्दमे के संबंध में उन के वकील को, जो आगे चल कर स्वयं एक प्रमुख राजनीतिज्ञ हुए, सारा देश जान गया। कहना न होगा कि मेरा अभिप्राय मिस्टर सी० आर० दास से है। श्री अरविंद घोष ने कुछ ही समय के उपरांत राजनीति से अवकाश ग्रहण कर लिया और वे ब्रिटिश भारत से भी चले गए। धार्मिक तथा तत्वज्ञान संबंधी निगूढ़ विषयों की गहन व्याख्या में उन्हें अपने उपयुक्त कार्य मिल गया। उन्हों ने इन विषयों की अपनी रचनाओं से भारतीय साहित्य की श्री वृद्धि की है और मेरा विचार है कि ये रचनाएं स्थायी साहित्य की विभूतियां हैं।

निर्वासन

उसी साल (१९०८) के अंतिम मास में बंगाल के कई सार्वजनिक कार्यकर्त्ता, जिन में बावू अश्विनीकुमार दत्त तथा बावू कृष्णकुमार मित्र भी थे, निर्वासित कर दिए गए। यह कार्यवाही सन् १८१८ के रेगूलेशन के अनुसार की गई थी, जिसे सर रासबिहारी घोष ने ग़ैर-क़ानूनी क़ानून कहा था। उसी महीने में क्रिमिनल ला एमेंडमेंट ऐक्ट पास हुआ जिस के दूसरे भाग का संस्थाओं को ग़ैर-क़ानूनी घोषित करने में व्यापक उपयोग हुआ है। सारांश यह कि सरकार ने शिकायतों को दूर कर के नहीं बल्कि दमन के द्वारा आंदोलन का अंत करने की भारी कोशिश की। उत्तरदायित्वहीन सरकारों में यह बुराई बहुत पुराने समय से चली आती है। उपरोक्त समय के तथा बाद के वर्षों के इतिहास से यह बात भली भाँति स्पष्ट हो जायगी कि हम भारतवासी इस बात को अपने जन्म भर भी न भुला सकेंगे। परंतु क्या सरकार की नीति केवल दमन की ही थी? नहीं। लार्ड मॉर्ले तथा लार्ड मिंटो को, जो उस समय क्रमशः भारत-मंत्री तथा

वायसराय थे, इस बात का श्रेय देना पड़ेगा कि उन्हों ने इस बात को जल्द ही महसूस कर लिया था कि राजनीतिक सुधार की आवश्यकता है। यह स्पष्ट हो गया था कि सन् १८९२ के कौंसिलस ऐक्ट की उपयोगिता अब समाप्त हो चुकी है और उस के अनुसार स्थापित हुई कौंसिलों के स्थान पर ऐसी कौंसिलों की स्थापना होनी चाहिए जिन से जनता को अधिक संतोष प्राप्त हो सके।

सुधार

सुधार के इस उत्साह का सब से पहला और विचित्र रूप उस आयोजना में प्रकट हुआ जो २३ अगस्त, १९०७ को भारत सरकार के तत्कालीन होम सेक्रेटरी सर हैरोल्ड स्टुआर्ट के हस्ताक्षर से प्रकाशित हुई। उसे सुधार आयोजना के बजाय दिल्लगी कहा जाय तो ज़्यादा ठीक होगा। उस में ऐसे-ऐसे प्रतिक्रियावादी, आपत्तिजनक तथा हानिकारक प्रस्ताव सम्मिलित थे कि देश भर में एक भी उल्लेखनीय व्यक्ति ने उस के समर्थन में एक भी प्रशंसा का शब्द नहीं कहा। इस आयोजना का आधार यह सिद्धांत था कि शिक्षित वर्ग के प्रभाव का प्रतीकार करने के लिए किसी विरोधी शक्ति की व्यवस्था होनी चाहिए और इस का यह उपाय सोचा गया कि एक "प्रतिष्ठित व्यक्तियों की कौंसिल" की स्थापना की जाय और विभिन्न जातियों तथा वर्गों को अधिक से अधिक प्रतिनिधित्व दिया जाय। जो कुछ कसर थी उसे मद्रास सरकार के प्रस्तावों ने पूरा कर दिया। उस का कहना था कि विभिन्न जातियों और पेशों के आधार पर प्रतिनिधित्व दिया जाय। इन प्रस्तावों की खिल्ली उड़ने के सिवाय और कुछ नहीं हुआ। आयोजना की सब से अच्छी आलोचना सन् १९०८ की संयुक्त प्रांतीय कान्फ्रेंस में, जो लखनऊ में हुई थी, पंडित बिशननरायन दर ने की। लेकिन सौभाग्य से भारत-मंत्री के पद पर जॉन मॉर्ले आसीन थे और श्री गोखले ने उन के सम्मुख भारत की ऐसी अच्छी वकालत की कि उक्त आयोजना अस्वीकृत कर दी गई और उस के स्थान पर १७ दिसंबर, १९०८ का भारत-मंत्री का खरीता आ गया।

सन् १९०९ का इंडिअन कौंसिल्स ऐक्ट इसी के आधार पर तैयार हुआ था। कुल मिला कर लॉर्ड मॉर्ले की स्कीम का भारत में अच्छा ही स्वागत हुआ। कौंसिलों के सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई, उन का प्रश्न पूछ सकने का अधिकार पहले से अधिक विस्तृत कर दिया गया और उन्हें बजट के संबंध में प्रस्ताव पेश कर सकने का अधिकार भी दे दिया गया। प्रांतीय कौंसिलों में ग़ैर-सरकारी सदस्यों का बहुमत भी कर दिया गया। दो वर्ष पूर्व दो भारतीयों की भारत-मंत्री की कौंसिल में प्रथम बार नियुक्ति हो चुकी थी और कौंसिलों के सुधार के साथ वायसराय तथा बंबई और मद्रास के गवर्नरों की कार्यकारिणी कौंसिलों में भी एक-एक भारतीय की नियुक्ति कर दी गई। बंगाल में भी कार्यकारिणी कौंसिल की स्थापना हो गई और उस में भी एक भारतीय को स्थान दिया गया। संयुक्त प्रांत में भी कार्यकारिणी कौंसिल की स्थापना का प्रस्ताव हुआ, परंतु वह पार्लामेंट की लॉर्ड सभा में रद्द हो गया। सन् १९१५ में इस प्रकार का प्रस्ताव फिर हुआ और फिर अस्वीकृत हो गया। लार्ड मॉर्ले को इन नए सुधारों को, विशेष कर भारत-सरकार में एक भारतीय को स्थान दिए जाने की बात को, पार्लामेंट से पास कराने में बड़ी कठनाइयों का सामना करना पड़ा था। सुधारों का श्रेय उन्हीं को है, परंतु लॉर्ड मिंटो की बाबत भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उन्हों ने सुधारों का समर्थन किया था। एक हँसी की बात यह याद आती है कि लार्ड सभा में विरोधी दल के नेता और भारत के भूतपूर्व वायसराय लॉर्ड लैंसडाउन ने बड़ी नाराज़ी के साथ यह शिकायत की थी कि भारत-सरकार में एक 'विदेशी' को स्थान दिया जा रहा है। भारत में भारतीय ही 'विदेशी'! क्या सूझ थी! सन् १८९२ के ऐक्ट की भाँति ही १९०९ के ऐक्ट की बाबत भी वही बात हुई कि उस के नियम ऐसे बनाए गए कि उस की उपयोगिता में काफ़ी कमी आ गई। यह इसी बात का एक और उदाहरण है कि

सुधारों के प्रभाव को बिगाड़ देने की नौकरशाही की शक्ति कैसी अद्वितीय है !

सांप्रदायिक निर्वाचन

बिना काँटे का गुलाब नहीं होता। सन् १९०९ का ऐक्ट अपने साथ एक ऐसी बुराई लाया जो तब से अब और भी बढ़ गई है। हमारा मतलब है सांप्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली से। इस का श्रेय लॉर्ड मिंटो को है। १ अक्टूबर, १९०६ को उन से शिमला में भारत भर के मुसलमानों का एक प्रभावशाली डेपूटेशन मिला जिस के नेता थे हिज़ हाईनेस आग़ा ख़ां। डेपूटेशन ने आश्चर्यजनक दावे पेश किए और स्पष्टतः पृथकरण के सिद्धांत का राग अलापा। लॉर्ड मिंटो ने अत्यंत अदूरदर्शितापूर्ण तथा ग़ैर-वाजिबी माँगों का अपनी तथा सरकार की ओर से ऐसी शीघ्रता से समर्थन कर दिया कि संदेह उत्पन्न होना स्वाभाविक था। अब तो यह बात सभी को मालूम है कि डेपूटेशन वालों की सूझ बिलकुल मौलिक ही नहीं थी, उन्हें शिमला से इशारा मिला था। होम डिपार्टमेंट के चतुर कर्मचारियों ने जब देखा कि सुधारों का होना तो अनिवार्य है, उन्हें तो हम रोक नहीं सकते, तो उन्हों ने सोचा कि चलो देश के दो प्रमुख संप्रदायों के बीच भेद डाल दो। उन के दिल में यह विचार रहा होगा, और ग़ैर-सरकारी अंग्रेज़ तो यह बात खुले तौर पर कहने में भी संकोच नहीं करते थे, कि अगर हिंदू और मुसलमान मिल कर एक हो गए तो फिर हम कहां रहेंगे ? इस बुराई को भी यथाशक्ति कम करने की लॉर्ड मॉर्ले ने कोशिश की। अपने १९०८ के ख़रीते में उन्हों ने प्रस्ताव किया कि निर्वाचन तो संयुक्त रूप से ही हो, परंतु मुसलमानों के लिए कौंसिलों में स्थान सुरक्षित कर दिए जायँ। लेकिन इस प्रस्ताव के विरुद्ध फ़ौरन हिंदुस्तान में आंदोलन खड़ा करा दिया गया। भारत-सरकार लॉर्ड मॉर्ले के प्रस्ताव के विरुद्ध थी और इस मामले में अपनी बात रखने पर तुली हुई थी। होम डिपार्टमेंट में उस समय एक अधिकारी थे जो जितने ही प्रतिक्रिया-

वादी थे उतने ही कुशल—सर हर्बर्ट रिज़ले। और मुसलमानों में ऐसे व्यक्ति थे जिन्हें अपनी जाति के कल्पित लाभ के लिए सांप्रदायिक आंदोलन का संगठन करने में संकोच नहीं था। लॉर्ड मॉर्ले के प्रस्ताव के सरकारी विरोधियों के लिए इस से अच्छी बात और क्या हो सकती थी?[1] आंदोलन विलायत तक भी जा पहुँचा जहां उस के नेता आग़ा ख़ां और स्वर्गीय मि० अमीर अली थे। हाउस आफ़ कामन्स में भी उन के समर्थक निकल आए जिन में लॉर्ड रोनाल्डशे (जो बाद को बंगाल के गवर्नर हुए और अब लॉर्ड ज़ैटलैंड के नाम से भारत-मंत्री हैं) और सर विलिअम जानसन-हिक्स (बाद को लॉर्ड ब्रेंटफ़ोर्ड) मुख्य थे। आंदोलन सफल हुआ और लॉर्ड मॉर्ले को झुकना पड़ा। पार्लामेंट में अपने बिल की रक्षार्थ उन के लिए झुकना आवश्यक हो गया। तब से सांप्रदायिक निर्वाचन प्रणाली अन्य अल्प-संख्यक जातियों के लिए भी स्वीकृत हो गई है और कतिपय प्रांतों में तो उस का स्थानीय संस्थाओं में भी समावेश हो गया है। इस वर्ष जो नया विधान पार्लामेंट से पास हुआ है उस में तो स्त्रियों को भी पृथक निर्वाचन का अधिकार प्रदान कर दिया गया है, बावजूद इस बात के कि उन्हों ने प्रायः एक स्वर से इस का विरोध किया था। पिछले पच्चीस वर्ष के अनुभव के आधार पर सांप्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली को हर तरह से बुरा ही कहा जा सकता है। कौंसिल को एक दर्जन या इस से भी अधिक जातियों तथा हितों के प्रतिनिधियों का अजायबघर बना देने का मतलब यही होता है कि उस के सदस्य अपने को इस-उस के प्रति वफ़ादार समझें, जनता के प्रति नहीं। अधिकांश अवसरों पर ग़ैर-सरकारी सदस्यों का बहुमत केवल इसी लिए निरर्थक सिद्ध हुआ है कि विभिन्न जातियों तथा वर्गों के प्रतिनिधियों के

[1] तब से एक मुसलिम नेता यह घोषणा कर चुके हैं कि अल्प-संख्यक जातियों को देश के प्रति विश्वासघात करने का अधिकार है।

मतभेद के कारण उन का बहुमत विभाजित हो गया है। मैं समझता हूँ कि भावी व्यवस्थापिका सभाओं के संबंध में भी हमारा अनुभव वांछनीय न सिद्ध होगा।

ज़रा देर के लिए मुझे फिर लौट कर दमन के विषय पर आना होगा। भाग्य का खेल देखिए कि मिंटो-मॉर्ले सुधारों के अनुसार स्थापित होनेवाली केंद्रीय कौंसिल से जो पहला क़ानून बना, वह था प्रेस ऐक्ट। यह क़ानून बड़ी तेज़ी से पास किया गया था और इस घबराहट की दलील यह थी कि समाचार-पत्रों के लेखों से आतंकवादी कार्यवाहियों को प्रोत्साहन प्राप्त हो रहा है। मुझे विश्वस्त रूप से मालूम हुआ है कि बिल जिस रूप में तैयार हुआ था वह और भी अधिक भयानक था। परंतु क़ानून सदस्य ने उसे उस रूप में पेश करने से इनकार कर दिया और जब उन्हों ने वायसराय की कार्यकारिणी कौंसिल में बहुमत अपने विरुद्ध पाया तो अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। परंतु न तो लॉर्ड मॉर्ले ही और न लॉर्ड मिंटो ही मि० सत्येंद्र प्रसन्न सिनहा का सहयोग खो देने के लिए राज़ी थे, और परिणाम-स्वरूप समझौता हो गया। भारत-सरकार के कुछ आई० सी० एस० सदस्यों ने मि० सिनहा को इस बात के लिए कभी क्षमा नहीं किया। परंतु मि० सिनहा संशोधित बिल से अब भी असंतुष्ट थे और उन्हों ने कहा कि वे कौंसिल में बिल पर वोट लिए जाने के समय तटस्थ हो जायँगे। परंतु उन्हें समझाया गया कि उन का ऐसा करना उचित न होगा, ख़ास कर इस बात का लिहाज़ रखते हुए कि भारत-मंत्री तथा वायसराय ने बिल में उन की ख़ातिर कुछ सुधार कर दिया था। प्रेस ऐक्ट के कारण लॉर्ड सिनहा के संबंध में देश में इतनी ग़लतफ़हमी फैली और उन पर वर्षों तक इतने आक्षेप हुए कि जब सन् १९१९ में मि० अर्डले नार्टन का आक्षेपात्मक लेख प्रकाशित हुआ तो मैं ने विलायत के एक पत्र में ठीक-ठीक बातें प्रकाशित करा दीं जो कि मुझे श्री गोखले से उसी वर्ष (सन्

प्रेस ऐक्ट

१९१० में) मालूम हो चुकी थीं और बाद को जिन्हें मैं स्वयं लॉर्ड सिनहा से भी सुन चुका था। फिर भी यह तो कहना ही पड़ेगा कि ऐक्ट बड़ा कठोर था और उस के बारह वर्ष के जीवन में उस से बड़ा उत्पात हुआ। स्वतंत्र तथा स्वस्थ समाचार-पत्रों के विकास के लिए तो वह घातक ही था। उस के समर्थन में यह कहा जाता था, जैसा कि बाद को (सन् १९२०, १९२२ और १९२५ में) उस के नवीन रूपों में पुनः अवतरित होने पर कहा गया है, कि किसी ईमानदार पत्रकार को उस से डरने की ज़रूरत नहीं है और राष्ट्रीय पत्र उस के रहते हुए भी जैसी स्वतंत्र आलोचना कर सके हैं वह इस बात का प्रमाण है कि भारत सरकार की मंशा कभी पत्रों की स्वतंत्रता का अपहरण करने की नहीं थी। ऐक्ट के समर्थक वही लोग थे जिन का मत प्रायः सदा ही सरकार से मिल जाता है, केवल उन अवसरों को छोड़ कर जब कि सरकार कोई ऐसा काम कर देती है जो सुधारकों की इच्छा के अनुकूल हो। वे स्वयं तो अधिकारियों की नाराज़ी से सदा मुक्त रहते ही हैं, तब भी जब कि वे आलोचना की वाजिबी सीमा को पार कर जाते हैं। इसी प्रकार के एक व्यक्ति ने एक बार लॉर्ड मॉर्ले पर 'हत्या में सहायक' कह कर आक्षेप किया था, परंतु उस संपादक के सिर का एक बाल भी बाँका नहीं हुआ। कृपा और अधिकार में भारी अंतर है। लेखकों तथा वक्ताओं से संबंध रखनेवाले नए और पुराने, साधारण तथा असाधारण जितने क़ानून हैं, उन सब का ख़याल रख कर यह कहने में मुझे तनिक भी संकोच नहीं कि अगर हम सरकार की नीति की तथा उस के कार्यों की आलोचना कर के बच जाते हैं तो यह हमारे अधिकार की बदौलत नहीं, उस की कृपा की बदौलत है। सरकार ने अपने अस्त्रागार में इतने अस्त्र-शस्त्रों का संग्रह कर लिया है कि वह जब चाहे तब हम पर वार कर सकती है। हम उस की इस बात के लिए प्रशंसा कर सकते हैं कि वह इन शस्त्रों का जितना उपयोग करती है उस से और अधिक नहीं करती, लेकिन इस से इन शस्त्रों का

अस्तित्व नहीं मिट जाता और जो सार्वजनिक कार्यकर्ता उन के अस्तित्व को भूलता है वह खतरे में पड़ जायगा। यहां यह कह देना भी ठीक होगा कि प्रेस ऐक्ट के पास होने के साथ ही सन् १६०८ में निर्वासित किए गए बंगाल के सार्वजनिक कार्यकर्ता मुक्त कर दिए गए। उन्हें १४ महीने हिरासत में रहना पड़ा और उन पर न तो कोई अभियोग लगाया गया, न उन पर मुक़दमा चला और न उन्हें हरजाना मिला।

बंगाल फिर एक

सन् १६११ का वर्ष इस बात के लिए उल्लेखनीय रहेगा कि १२ दिसंबर को दिल्ली में होनेवाले राज्याभिषेक-दरबार में श्रीमान् सम्राट ने घोषणा कर के बंग-भंग को रद्द कर दिया। इस के साथ ही राजधानी कलकत्ता से हटा कर दिल्ली कर दी गई। बंगाल के कुछ आदमियों को अब भी इस बात से नाराज़ी थी कि बिहार, उड़ीसा और छोटा नागपुर को बंगाल से पृथक किया जा रहा है और राजधानी को कलकत्ता से हटाया जा रहा है। लेकिन बावजूद इस के सारे बंगाल ने इस बात पर बड़ी ख़ुशी मनाई कि लार्ड कर्ज़न का घृणित बंग-भंग रद्द हो गया और सारा बंगाल फिर एक प्रांत बन गया। उस वर्ष की कांग्रेस कलकत्ता में हुई थी और उस के अध्यक्ष पंडित बिशननरायन दर ने अपने भाषण में सारे राष्ट्र की ओर से बंगाल की बड़ी प्रशंसा की। उन्हों ने कहा :—

बंगाल ही नहीं, सारा भारत श्रीमान् सम्राट के प्रति हृदय से कृतज्ञ है। बंगाल की माँग सारे भारत की माँग थी और उस की पूर्ति सरकारी शान पर न्याय की विजय है और हमारे इस विश्वास की पुष्टि करती है कि अंग्रेज़ी शासन में राजभक्ति तथा क़ानून के सम्मान के साथ किया गया वैध आंदोलन सफलता प्राप्त कर सकता है। बंगाल ने एक महान अन्याय के विरुद्ध वीरतापूर्ण युद्ध किया था और उस ने महान विजय प्राप्त की है। विजय का कारण हमारे शासकों की न्यायप्रियता है, परंतु साथ ही उन त्यागी तथा देशभक्त नेताओं की साहसपूर्ण वीरता भी है

जिन्हों ने अपने चारों ओर तूफ़ान उठते देखा, अपने मार्ग को दुःख और कष्ट के बादलों से धूमिल देखा, परंतु दूर चमकती हुई आशा की क्षीण ज्योति से कभी अपनी दृष्टि न हटने दी, जिन्हों ने अपनी माँग के न्यायपूर्ण होने की बात कभी नहीं भुलाई और ब्रिटिश न्याय पर से अपना विश्वास कभी न हटने दिया। आखिर उन्हों ने आधुनिक भारत के सब से अधिक महत्वपूर्ण वैध संग्राम में विजय प्रात की और राष्ट्र के सम्मुख एक उत्साहवर्द्धक उदाहरण उपस्थित कर दिया।

सन् १९१२ के दिसंबर की एक खेदजनक घटना का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है। जब लॉर्ड हार्डिंज नई राजधानी में समारोह के साथ प्रवेश कर रहे थे, उन पर बम फेंका गया और उन्हें सख़्त चोट आई। सौभाग्य से वह घातक नहीं सिद्ध हुई। इस बात के लिए उन की प्रशंसा करनी पड़ेगी कि इस घटना से उन में तनिक भी कटुता नहीं आई। उन्हों ने अपने को वास्तव में अत्यंत उदार प्रमाणित किया और सदा भारत के हितों का ध्यान रख कर कार्य किया।

दक्षिणी अफ्रीका में संघर्ष

जब इधर भारत में असंतोष तथा आंदोलन की आग भड़क रही थी, तब उधर दक्षिणी अफ्रीका में हमारे देशवासियों की हालत लगातार बिगड़ी जा रही थी। उन्हें भी नागरिकता के अधिकार प्राप्त हों, यह बात न वहां के अंग्रेज़ों के दिमाग़ में आती थी और न बूअरों के दिमाग़ में। दक्षिणी अफ्रीका के स्वराज्य का अर्थ मान लिया गया था, और अब भी मान लिया गया है, अल्प-संख्यक गोरे प्रवासियों के लिए स्वराज्य, न अफ्रीका के आदिम निवासियों के लिए और न प्रवासी भारतीयों के लिए। दक्षिणी अफ्रीका के युद्ध के समय उपनिवेश-मंत्री लॉर्ड लैंसडाउन ने बड़ी न्यायप्रियता के स्वर में ज़ोरों से कहा था कि प्रेसिडेंट क्रूगर की सरकार के अनुचित कार्यों में सब से अधिक चोट मुझे ट्रांसवाल के

भारतीयों के प्रति किए गए दुर्व्यवहार से पहुँची है। लेकिन बूअर प्रजातंत्रों के ब्रिटिश साम्राज्य में सम्मिलित कर लिए जाने के पश्चात् इस तथा इस जैसी घोषणाओं को शीघ्र ही भुला दिया गया। दक्षिण अफ्रीका के हाई कमिश्नर लॉर्ड मिलनर राजनीतिक दृष्टि से निस्सहाय भारतीयों की माँगों पर निष्पक्षता अथवा सहानुभूति के साथ विचार करनेवाले व्यक्ति नहीं थे। लॉर्ड कोर्टने की भाषा में उन का दिमाग़ खो गया था। भारतीयों पर लगाए गए प्रतिबंध क्रमशः अधिकाधिक असह्य होने लगे। इस बीच श्री गांधी वीरतापूर्वक युद्ध कर रहे थे, परंतु उस का कोई परिणाम नहीं निकल रहा था। अंत में सन् १९१२ में उन्हों ने बड़ी मात्रा में सत्याग्रह संग्राम छेड़ दिया। श्री गोखले ने उन के पक्ष को भारत में उठाया और भारतवासियों ने बड़ी प्रशंसनीय देशभक्ति के साथ उदारतापूर्वक दान दिया ताकि उन के भाई सुदूर देश में अपना संग्राम जारी रख सकें और मातृभूमि के गौरव तथा उस की संतानों के आत्म-सम्मान की रक्षा कर सकें। इस आंदोलन में श्री गांधी तथा गोखले दोनों ही ने अपने कर्तव्यों का बड़े सुंदर रूप से निर्वाह किया। इस से भी अधिक उल्लेखनीय बात यह है कि वायसराय लॉर्ड हार्डिंज ने अपने को स्पष्ट तथा सार्वजनिक रूप से दक्षिण अफ्रीका-प्रवासी भारतीयों का समर्थक बना लिया और उन्हों ने वह प्रसिद्ध घोषणा की जिस में कहा गया था कि दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों ने अपने को जिस परिस्थिति में पाया उस में निष्क्रिय प्रतिरोध (सत्याग्रह) के राजनीतिक अस्त्र का उपयोग करना क्षम्य ही नहीं उचित भी था। जब जनरल स्मट्स ने समझौता करना स्वीकार कर लिया तब संग्राम की समाप्ति हो गई और उस के बाद श्री गांधी हिंदुस्तान को लौट आए। बाद को दक्षिण अफ्रीका की यूनियन सरकार के विरुद्ध यह अभियोग लगाया गया है कि उस ने समझौते की शर्तों का ईमानदारी के साथ पालन नहीं किया है। यह बात निश्चित है कि यूनियन सरकार की

भारत-विरोधी नीति में कमी नहीं आई है। कई बार संकट उपस्थित हुआ और उसे हल करने का मार्ग खोजने के लिए कान्फ़रेंसें भी हुईं। कुछ सालों से दक्षिण अफ्रीका में भारत-सरकार के एजेंट भी रहने लगे हैं। पहले एजेंट माननीय श्रीनिवास शास्त्री थे। पिछले एजेंट सर महाराज सिंह अपना यह मत प्रकट कर चुके हैं कि एजेंट प्रायः कुछ भी नहीं कर पाते और इस पद को तोड़ दिया जाय तो कोई हानि न होगी। एक के बाद दूसरे एजेंट ने अत्यंत कठिन परिस्थितियों में प्रवासी भारतीयों की भलाई का भरसक प्रयत्न किया है और अपने साहसपूर्ण अध्यवसाय के लिए वे प्रशंसा के पात्र हैं। एक बात स्पष्ट है—यह बात सदा से स्वीकार की गई है कि जब तक भारतवासियों को अपने ही देश में स्वराज्य के अधिकार प्राप्त नहीं हो जाते तब तक यह आशा करना बेकार ही है कि ब्रिटिश साम्राज्य के अंदर अथवा अन्यत्र बसे हुए भारतीय प्रवासियों के साथ ब्रिटिश नागरिकों के नाते या सभ्य मनुष्यों के नाते उचित व्यवहार किया जायगा। प्रवासी भारतीयों का पक्ष समर्थन करने के संबंध में भारत-सरकार ने सदा प्रायः वही रुख इख़्तियार किया है जो राष्ट्रीय सरकार करती और उसे बहुत थोड़ी-सी सफलता भी मिली है। परंतु वह भी कुछ अधिक नहीं कर सकती। भारत सरकार ब्रिटिश सरकार की मातहत है और किसी ऐसी कड़ी नीति का पालन नहीं कर सकती जिस से ब्रिटिश सरकार पर किसी तरह की कठिनाई आ सके।

सी० एफ़० एंड्रूज़

सन् १९१२ के संग्राम में एक ऐसे सज्जन प्रथम बार सक्रिय राजनीति में आए जिन का नाम भारी सम्मान, प्रशंसा तथा स्नेह के ही साथ लिया जा सकता है। उन्हें इस कार्य में पड़ने की प्रेरणा राजनीतिक नहीं मानवीय भावनाओं से प्राप्त हुई। मेरा अभिप्राय है अपने मान्यवर मित्र मिस्टर सी० एफ़० एंड्रूज़ से। जिस किसी का भी मि० एंड्रूज़ से परिचय होगा, वह उन का सम्मान तथा उन से प्रेम किए बिना न रह सकेगा।

मुझे किसी ऐसे व्यक्ति से मिलने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ है जिस में आत्म-विस्मृति की भावना अथवा हृदय की उदारता उन से अधिक हो या जो जातीय भावना से उन की अपेक्षा अधिक मुक्त हो। सन् १६१३ के संग्राम में भारतीयों पर होनेवाले नित्य के अत्याचारों के जो रोमहर्षक वृत्तांत प्रकाशित होते थे, उन का मि० एंड्रूज़ के हृदय पर—उस समय वे दिल्ली के सेंट स्टीफिंस कॉलेज में प्रोफ़ेसर थे—इतना प्रभाव पड़ा कि वे मिस्टर गोखले से मिले और उन के सामने १५०० रुपये की थैली रख कर बोले कि मेरे पास केवल यही है। कृपया इसे ले कर दक्षिण अफ्रीका भेज दीजिए। मुझे इस बात का दुःख है कि मेरे पास और अधिक कुछ नहीं है। मिस्टर गोखले ने उन्हें उन की जीवन भर की बचाई हुई रक़म से वंचित करना तो ठीक नहीं समझा, लेकिन उन से कहा कि आप अफ्रीका जा कर और वहां के भारतीयों की यथा-शक्ति सहायता कर के और भी बड़ी सेवा कर सकते हैं। मिस्टर एंड्रूज़ ने फ़ौरन कॉलेज में अपना पद छोड़ दिया और अपने एक साथी स्वर्गीय मिस्टर डबलू० डबलू० पिअर्सन के साथ अपने ही ख़र्चे से अफ्रीका के लिए रवाना हो गए। वहां वे मिस्टर गांधी के संपर्क में आए और तब से महात्मा गांधी तथा कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर दोनों को अपना गुरु मानते हैं। संसार का कोई ऐसा भाग नहीं है, जहां वे हमारे भाइयों की सहायतार्थ न गए हों। वास्तव में मिस्टर एंड्रूज़ इस भौतिकवाद के युग में एक संत हैं। भारतीय उन का जितना भी सम्मान करें और उन का जितना भी आभार मानें, कम ही होगा। वे उन बहुत ही थोड़े सज्जनों में से हैं, जिन के कारण हमारा मानवता पर से विश्वास नहीं उठ जाता।

महायुद्ध

सन् १६१४ में महायुद्ध का प्रारंभ हुआ। इंगलैंड के उस में सम्मिलित होने का सरकारी तौर पर जो कारण बताया गया था वह यह था कि सन् १८३६ की एक

संधि के द्वारा वह बेलजियम की सहायता करने, उस की तटस्थता और उस की स्वतंत्रता की रक्षा करने के लिए बाध्य है। जर्मनी के प्रधान मंत्री ने उसी संधि की, जिस पर जर्मनी के भी हस्ताक्षर थे, 'एक काग़ज़ का टुकड़ा' कह कर उपेक्षा कर के अपने को सदा के लिए बदनाम कर लिया। हम भारतवासियों को अनेक बार इस बात की शिकायत करने का अवसर आया है कि ब्रिटिश सरकार ने हमारे प्रति अपने कर्तव्यों को काग़ज़ के टुकड़ों से अधिक कुछ नहीं माना है। फिर भी ब्रिटेन के लिए यह प्रशंसा की ही बात है कि विश्व-संकट के इस अवसर पर उस ने महायुद्ध के लिए पूरी तरह तैयार न होते हुए भी और जर्मनी अथवा आस्ट्रिया से कोई तात्कालिक झगड़ा न रहते हुए भी अपना कर्तव्य-पालन करना ठीक समझा। हां, यह सच है कि अपने साम्राज्य के हितों की खातिर उसे बाद को रणक्षेत्र में उतरना ही पड़ता। जर्मनी ने मरता क्या न करता की भावना से प्रेरित हो कर सभी देशों के जहाज़ डुबाने की जो नीति ग्रहण की, उस के फल-स्वरूप तीन वर्ष बाद सुदूरवर्ती अमेरिका को भी युद्ध में अवतीर्ण होना पड़ा। इंगलैंड का हित भी युद्ध में सम्मिलित होने में था और उस का कर्तव्य भी यही था। इसी प्रकार भारत ने भी यही सोचा कि इस अभूतपूर्व महायुद्ध के फल-स्वरूप संसार के अधिकांश देशों को जो महान त्याग करना पड़ रहा है उस में ब्रिटेन तथा साम्राज्य के अन्य भागों का साथ देना ही उस का कर्तव्य है और इसी में उस का हित है। भारत ने ब्रिटेन का साथ देने में जो आश्चर्य-जनक तत्परता दिखाई उस का ब्रिटेन के सभी राजनीतिक दलों के राजनीतिज्ञों पर भारी प्रभाव पड़ा। पार्लमेंट के दोनों भवनों में भी और उन के बाहर भी ज़िम्मेदार राजनीतिज्ञों ने ब्रिटेन की कृतज्ञता तथा प्रसन्नता का उदारतापूर्वक बखान किया। उस समय स्वतंत्रता, समानता, न्याय, स्वराज्य तथा लोकतंत्र की प्रशंसा में वे एक दूसरे से बढ़ जाने की सी कोशिश कर रहे थे। प्रधान मंत्री मिस्टर एस्क्विथ

ने कहा कि "हम कृतज्ञता तथा स्नेह के साथ भारतवासियों की सहायता का स्वागत करते हैं। हमारे साम्राज्य में न जाति का भेद है और न वर्ग का। हम सब समान रूप से सम्राट की प्रजा हैं और अपने हितों तथा भविष्य के संयुक्त तथा समान रूप से रक्षक हैं।" उपनिवेश-मंत्री लॉर्ड हारकोर्ट ने ब्रिटिश जाति की स्वराज्य तथा सुराज्य संबंधी योग्यता का बखान किया। मिस्टर मांटेगू ने इस बात का उल्लेख किया कि इंगलैंड तथा भारत समान रूप से स्वतंत्रता के आदर्श के पुजारी हैं। अन्य राजनीतिज्ञों ने भी अनेक बार ज़ोरों से इसी तरह की बातें कहीं। इसलिए भारत में स्वभावतः यह आशा उत्पन्न हो गई कि युद्ध की समाप्ति के पश्चात् वह एक लंबी डग आगे रख सकेगा। श्री तिलक ने जो कि महायुद्ध का प्रारंभ होने के बाद ही जेल से मुक्त हुए थे, अपने देशवासियों से इंगलैंड की राजभक्ति-पूर्वक सहायता करने के लिए आग्रह किया। परंतु दुर्भाग्य की बात है कि प्रेम की भांति ही उन्नति का मार्ग भी सीधा तथा प्रशस्त नहीं होता और भारत की युद्ध संबंधी सेवाओं और त्यागों तथा आशाओं के बीच एक बार फिर दमन आ धमका। कुछ राजनीतिक तथा आर्थिक—मुख्यतः आर्थिक—कारणों से देश में असंतोष बढ़ रहा था। ब्रिटिश कोलंबिया में प्रवासी भारतीयों के साथ ऐसा दुर्व्यवहार हो रहा था कि वे इस देश को लौट आए और असंतुष्ट लोगों की संख्या में और भी वृद्धि हो गई। कोमागाटा मारू वाली दुर्घटना के कारण बड़ा उत्पात मचा। बंगाल में आतंकवाद घटने के बजाय और बढ़ रहा था। इंगलैंड की भांति ही भारत में भी डिफ़ेंस ऑफ इंडिया ऐक्ट पास हुआ और उस के अनुसार बननेवाले नियमों द्वारा सरकार को यह अधिकार मिल गया कि वह लोगों पर मामला चलाए बिना, बल्कि अभियोग लगाए बिना भी, उन्हें नज़रबंद कर सकती है। इस अधिकार का खूब स्वतंत्रता से उपयोग किया गया और लोगों के दिल में यह सवाल उठने लगा कि क्या ब्रिटेन भारत की राजभक्ति का यही जवाब देने जा रहा है।

मिसेज़ बेसेंट

सन् १९१४ में भारतीय राजनीति में मिसेज़ बेसेंट के रूप में एक नवीन शक्ति का प्रवेश हुआ। अपने इंगलैंड तथा भारत के कार्यों में वे अपनी अद्भुत शक्तियों का पहले ही परिचय दे चुकी थीं। उन में विशाल विद्या और बुद्धि, अदम्य इच्छा-शक्ति, दृढ़ लगन, निर्भीक साहस, अपराजेय उत्साह तथा अथक कार्यशीलता का अपूर्व सम्मिश्रण था। और इन के साथ थी अद्वितीय भाषण-शक्ति। राजनीति में प्रवेश करने के बाद उन्हों ने ज़रा भी विश्राम नहीं लिया। उन्हों ने 'मद्रास स्टैंडार्ड' नामक दैनिक पत्र को ले कर उस का नया नामकरण कर के 'न्यू इंडिया' बना दिया और नित्य प्रति के भाषणों तथा लेखों द्वारा वे देश में उत्साह का ऐसा संचार करने लगीं जैसा वही कर सकती थीं। विश्वव्यापी थियोसफ़ीकल सोसाइटी के रूप में उन के पास बना-बनाया संगठन तो पहले ही से मौजूद था। और हज़ारों शिक्षित नर-नारी जो उन के भक्त थे, उन के नए कार्य में उन की सहायता के लिए प्रस्तुत थे। किसी भी क्षेत्र में साधारण की कोटि में रह सकना तो उन के स्वभाव के ही प्रतिकूल था। वे शीघ्र ही अधिकांश पुराने राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं को पीछे छोड़ गईं और उन्हें व्यंगपूर्वक 'कल के आदमी' कह कर ताना मारने लगीं। उन्हों ने होम रूल लीग कायम की और उस की छत्रछाया में देश भर में संस्थाएं स्थापित कीं। प्रचार-कार्य के लिए लोक-प्रिय साहित्य विशाल परिमाण में बांटा गया। यत्र-तत्र-सर्वत्र वे भाषण देती दिखाई पड़ती थीं, जिन में उत्तेजना तो सदा रहती थी और संयम का उसी प्रकार अभाव रहता था। सन् १९१७ के बीच में मिस्टर आरंडेल और मिस्टर वाडिया के साथ उन्हें नज़रबंद कर दिया गया। इस बीच सन् १९१५ की बंबई कांग्रेस में उस के विधान में होनेवाले संशोधन के फल-स्वरूप श्री तिलक अपने समस्त अनुयायियों के साथ कांग्रेस में वापिस आ गए थे। उस समय इस बात की ओर बहुत कम लोगों का ध्यान गया था कि कांग्रेस में मिसेज़ बेसेंट तथा श्री तिलक तथा उन के अनुयायियों की उपस्थिति का, जिन का

साथ देने के लिए लाला लाजपतराय और मिस्टर सी० आर० दास भी मौजूद थे, परिणाम यह होगा कि उस की नीति तथा उस के ढंगों में ऐसा परिवर्तन हो जायगा कि पुराने नेताओं तथा उन के अनुयायियों के लिए कांग्रेस में ठहर सकना असंभव हो जायगा। इस बात का अनुभव प्रथम बार सन् १९१७ में हुआ। उस साल कलकत्ता में मिसेज़ बेसेंट की अध्यक्षता में जो कांग्रेस हुई, उस में नए नेताओं के ढंगों को देख कर, जिन की उपयोगिता में बहुतों को विश्वास न था, हम लोगों को यह भय हो गया था कि शायद हमारे लिए कांग्रेस का अंतिम अधिवेशन यही हो। और ऐसा ही हुआ।

नए सुधार

सन् १९१६ में लॉर्ड हार्डिंज के स्थान पर लॉर्ड चेम्सफ़ोर्ड वायसराय हो कर आए और उन्हों ने राजनीतिक सुधारों की नई क़िस्त का विषय उठाया। वे अपने आई० सी० एस० वाले सलाहकारों के हाथों में थे और परिणाम-स्वरूप जो आयोजना तैयार हुई उस की प्रत्येक पंक्ति पर 'साहसहीनता' की छाप लगी हुई थी। भारत-सरकार के भारतीय सदस्य सर शंकरन नायर ने इस आयोजना से असहमत हो कर एक उल्लेखनीय भेद-पत्र लिखा था। अनुदार दल के भारत-मंत्री मि० (अब सर ऑस्टिन) चेम्बरलेन[1] ने भी आयोजना को काफ़ी नहीं समझा। परिणाम यह हुआ कि वायसराय ने भारत-मंत्री को भारत आ कर यहां की स्थिति का अध्ययन करने, उन से, गवर्नरों से और सार्वजनिक कार्यकर्ताओं से सलाह करने और फिर नई आयोजना तैयार करने के लिए निमंत्रण दिया, परंतु मेसोपोटामिया कमीशन ने मेसोपोटामिया के युद्ध की तैयारी तथा उस के संचालन के संबंध में भारत-सरकार की लज्जाजनक अयोग्यता की जो आलोचना की उस के परिणाम-स्वरूप मि० चेम्बरलेन ने अचानक भारत-मंत्री के पद से इस्तीफ़ा दे दिया।

---

[1] स्वर्गीय सर ऑस्टिन चेम्बरलेन वर्तमान प्रधान मंत्री मि० चेम्बरलेन के बड़े भाई थे।

मि० मांटेगू की नियुक्ति

तब मि० मांटेगू भारत-मंत्री नियुक्त हुए। उन की नियुक्ति इस कारण और भी उल्लेखनीय थी कि चंद सप्ताह पहले उन्हों ने पार्लीमेंट में मेसोपोटामिया संबंधी विवाद के समय भारत-सरकार की कड़े शब्दों में निंदा की थी और उसे अपरिवर्तनशील तथा दकियानूसी कहा था। मि० मांटेगू लॉर्ड मॉर्ले तथा लॉर्ड क्रू के साथ सहकारी भारत-मंत्री रह चुके थे। परंतु वे अन्य सहकारी मंत्रियों जैसे नहीं थे। यद्यपि इस पद पर नियुक्त होने के समय उन की अवस्था केवल ३१ वर्ष थी, उन्हों ने भारत के संबंध में बड़ा अनुराग प्रदर्शित किया और उस की समस्याओं की पूरी-पूरी जानकारी हासिल कर ली। उन के बजट संबंधी वार्षिक भाषण जैसे योग्यतापूर्ण होते थे वैसे ही उच्च भावनाओं से भूषित रहते थे। सन् १९१२ में वे भारत की, उस की समस्याओं की और उस के निवासियों की निकट से जानकारी हासिल करने के लिए यहां आए भी थे। यहां उन्हों ने बहुतों से मित्रता स्थापित की और उन की स्पष्टवादिता, सहानुभूति तथा उन्नतिशीलता का उन से मिलनेवालों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। स्वभावतः ऐसे व्यक्ति के भारत-मंत्री नियुक्त होने से भारत में बड़ी-बड़ी आशाओं का उदय हुआ। और वे आशाएं निराधार नहीं प्रमाणित हुईं। नए भारत मंत्री का प्रथम महत्वपूर्ण कार्य उन की २१ अगस्त, १९१७ वाली ऐतिहासिक घोषणा थी, जिस में उत्तरदायित्वपूर्ण शासन को ब्रिटेन की भारतीय नीति का ध्येय स्वीकार किया गया। इस के दूसरे ही दिन यह घोषणा हुई कि भारतीय सेना से जाति-भेद दूर कर दिया जायगा और भारतीयों को सैनिक अफ़सरों के पद प्राप्त हो सकेंगे। उन का तीसरा कार्य था मिसेज़ बेसेंट और उन के दो साथियों की रिहाई। तब वे भारत आए। उन के साथ एक प्रतिनिधि-मंडल भी था। उन्हों ने वायसराय से, भारत-सरकार से तथा प्रांतीय गवर्नरों से परामर्श लिया, देश भर की सार्वजनिक संस्थाओं के डेपूटेशनों से मिले, सुधारों के प्रबंध

महत्वपूर्ण पहलू पर विभिन्न विचारों के भारतीयों से विचार-विनिमय किया और छः मास के कठिन परिश्रम के बाद संयुक्त रिपोर्ट तैयार हो जाने पर, जिस पर उन के और वायसराय के हस्ताक्षर थे, वे इंगलैंड को लौटे। उन से जो डेपूटेशन मिले थे उन में सब से अधिक महत्वपूर्ण ऑल-इंडिया कांग्रेस कमेटी तथा ऑल-इंडिया मुसलिम लीग की कौंसिल के डेपूटेशन थे जो इस अवसर पर अपने भेदभावों को भुला कर एकता-पूर्वक कार्य कर रही थीं। अगले जून में रिपोर्ट प्रकाशित हुई। दुर्भाग्य-वश रिपोर्ट ने कांग्रेस के दो दलों के मतभेद को और भी बढ़ा दिया। रिपोर्ट में जो आयोजना पेश की गई थी, उस के संबंध में दोनों के विचारों में भारी अंतर था। इस बात पर दोनों ही सहमत थे कि रिपोर्ट में त्रुटियां हैं। परंतु पुराने दल वालों का विचार था कि नई आयोजना भारत के वर्तमान विधान से बहुत आगे बढ़ी हुई है। इसलिए उस में, विशेष कर केंद्रीय सरकार संबंधी प्रस्तावों में, संशोधन कराने के लिए जोर दिया जाय, परंतु साथ ही देश-हित का तक़ाज़ा यही है कि मोटे तौर पर उस का समर्थन कर के मि० मांटेगू की स्थिति को सुदृढ़ किया जाय। नए दल वालों का कहना था कि आयोजना को अस्वीकार कर दिया जाय। इस मत का सब से अधिक ज़ोरदार प्रकटीकरण मिसेज़ बेसेंट ने 'न्यू इंडिया' के द्वारा इन शब्दों में किया था कि इस आयोजना को पेश करना इंगलैंड के लिए लज्जाजनक है और उसे स्वीकार करना भारत के लिए लज्जाजनक होगा। बंबई में कांग्रेस का विशेष अधि-वेशन हुआ और उस में यह प्रस्ताव पास हुआ कि आयोजना 'नाकाफ़ी, असंतोषजनक तथा निराशाजनक' है।

लिबरल पार्टी का जन्म

इस अवसर पर कांग्रेस के पुराने दल वालों के सम्मुख यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि उन्हें कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में सम्मिलित होना चाहिए अथवा नहीं। उन्हों ने आपस में सलाह-मशविरा किया, प्रश्न पर गंभीरता-

पूर्वक विचार किया और यह निर्णय किया कि देश कांग्रेस से अधिक महत्वपूर्ण है, देश-हित तो स्वयं ध्येय है और कांग्रेस उस का साधन मात्र है, और इस महत्वपूर्ण अवसर पर यह आवश्यक है कि वे सुधार आयोजना की निंदा में सम्मिलित न हों बल्कि अपनी अलग से कान्फ़रेंस कर के अपने विचारों का स्पष्टीकरण करें। कुछ का यह विचार था कि उन्हें कांग्रेस से तब तक अलग न होना चाहिए जब तक कि उन के मत की पराजय हो कर उन का उस में ठहर सकना असंभव न हो जाय। जिन लोगों का विचार इस से भिन्न था, यह बात उन के दिमाग़ में भी न थी कि वे कांग्रेस को सदा के लिए छोड़ देंगे। परंतु आगे के घटना-क्रम ने उन के अस्थायी पृथक्करण को बरबस स्थायी संबंध-विच्छेद का रूप दे दिया। पुराने दल वालों की कान्फ़रेंस नवंबर मास में बाबू सुरेंद्रनाथ बनर्जी की अध्यक्षता में बंबई में हुई। उस में कांग्रेस के भूतपूर्व अध्यक्षों का अच्छा जमाव था। उस के प्रस्तावों में मांटेगू आयोजना के असंतोषजनक अंगों की विस्तृत तथा रचनात्मक आलोचना थी, परंतु साथ ही यह भी स्पष्टतापूर्वक स्वीकार किया गया था कि समष्टि रूप से आयोजना का स्वागत होना चाहिए।

सन् १९१९ का विधान

मांटेगू-चेम्सफ़ोर्ड रिपोर्ट के आधार पर तैयार होनेवाला बिल अप्रैल, सन् १९१९, में हाउस आफ़ कामन्स में पेश हुआ। वह रिपोर्ट की अपेक्षा अधिक निराशाजनक निकला। कांग्रेस के पुराने दल वालों ने उस से अलग हो कर अपना नाम लिबरल पार्टी रख लिया था। उन्हों ने सरकार पर इस बात के लिए दबाव डाला कि बिल में काफ़ी संशोधन किए जायँ ताकि भारत की इच्छाओं तथा आवश्यकताओं की कुछ अधिक पूर्ति हो सके। बाबू सुरेंद्रनाथ बनर्जी की अध्यक्षता में उन का डेपुटेशन विलायत गया। उस के कई सदस्यों ने बिल पर विचार करनेवाली पार्लामेंट की सलेक्ट कमेटी के सम्मुख बयान भी दिए। कांग्रेस तथा होम रूल लीग ने भी

अलग-अलग डेपूटेशन गए थे। इस बीच लीग का रुख मांटेगू-चेम्सफ़ोर्ड आयोजना के प्रति पिछले वर्ष की अपेक्षा अधिक अनुकूल हो गया था और विलायत में उस के प्रतिनिधि, मिसेज़ बेसेंट और मि० (अब सर सी० पी०) रामास्वामी ऐयर तथा लिबरल प्रतिनिधि सहयोगपूर्वक कार्य करते रहे। कांग्रेस की ओर से मिस्टर वी० पी० माधव राव तथा मिस्टर वी० जे० पटेल ने जो बयान दिए उन से सलेक्ट कमेटी आतंकित हो गई। और इसी का यह परिणाम हुआ कि १९१९ के गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया ऐक्ट में उस की भूमिका का पिछला वाला तथा अवांछनीय भाग जोड़ दिया गया जो कि १९३५ के ऐक्ट में भी ज्यों का त्यों दोहरा दिया गया है। सलेक्ट कमेटी में मि० मांटेगू के अतिरिक्त लॉर्ड सिनहा भी थे, जो पिछले दिसंबर में सहकारी भारत-मंत्री नियुक्त हो चुके थे। मैं ने जो कुछ अपनी आंखों से देखा था उस के आधार पर कह सकता हूं कि उन दोनों ने विधान को कठिनाइयों के बीच अपनी शक्ति भर अधिक से अधिक संतोषजनक बनाने के लिए बड़ा अथक परिश्रम किया था। मि० मांटेगू के उत्साह तथा योग्यता की बदौलत लिबरल डेपूटेशन का प्रयत्न काफ़ी सफल रहा। मि० मांटेगू ने जो कुछ किया वह अत्यंत प्रशंसनीय था।

मि० मांटेगू

मि० मांटेगू की भारत के प्रति सद्भावना साधारण नहीं थी। उन्हें भारत से बड़ा गहरा प्रेम था। जब वे भारत में थे और उन की आयोजना तैयार हो रही थी, मुझे उन से अनेक बार वाद-विवाद करने का अवसर मिला था। सर शंकरन नायर तथा भारत-सरकार के अन्य सदस्यों से जिन में सर जार्ज लाउंस तथा मेरे परम मित्र सर विलिअम मेयर भी थे, मैं ने जो बातें सुनी थीं उन से भी यही मालूम होता था कि मि० मांटेगू जैसी दृढ़ता से अपनी बात पर अड़नेवाले थे वैसी ही ज़बर्दस्त उन की योग्यता थी और इन दोनों से बढ़ कर थी उन की लगन। इंगलैंड में मुझे उन्हें सलेक्ट कमेटी में तथा इंडिया ऑफ़िस में कार्य करते हुए देखने के कई अवसर मिले।

मेरे मित्र सर तेज बहादुर सप्रू ने मुझे बताया था कि जब सन् १९२३ में वे भारत-सरकार के प्रतिनिधि की हैसियत से इंपीरिअल कान्फ़्रेंस (साम्राज्य परिषद) में सम्मिलित होने को गए थे और वहां केनिया तथा दक्षिणी अफ़्रीका के भारतीयों की परिस्थिति पर विचार हुआ था, तब उन्हें मि० मांटेगू से बड़ी सहायता प्राप्त हुई थी। मैं ने उन की बाबत जो कुछ देखा, सुना तथा जाना उस के आधार पर मुझे यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं कि भारत-मंत्रियों में भारतीय दृष्टि-कोण से मि० मांटेगू का स्थान सब से ऊँचा है। उन से अधिक महान व्यक्तियों ने भारत-मंत्री के पद को सुशोभित किया है; उदाहरणतः लॉर्ड सैलसबरी और लॉर्ड मॉर्ले। कई भारत-मंत्री, उदाहरणतः पुरानों में लॉर्ड मॉर्ले और नयों में मि० वैजवुड बेन, निस्संदेह भारत के मित्र तथा हितैषी थे। परंतु न तो उन से पहले और न उन से पीछे, कोई भारत-मंत्री ऐसा नहीं हुआ जिसे मि० मांटेगू के समान भारत से प्रेम रहा हो या जिस ने उन के बराबर भारत की सेवा की हो। मैं फिर कहता हूं कि उन्हें भारत से उद्भ्रांत प्रेम था। सन् १९२४ में केवल ४५ वर्ष की अवस्था में उन का स्वर्गवास हो गया। उन का दिल टूट चुका था। उन्हें इस बात से बड़ा मानसिक कष्ट हुआ था कि भारतीयों की सेवा में उन्हों ने अपने आप को खपा दिया और ब्रिटिश राजनीति में अपना भविष्य बिगाड़ लिया और उन्हीं भारतीयों ने उन की इतनी कटु आलोचना की। उन के अपने देशवासी उन से इसलिए नाराज़ थे कि वे उन के भारत के प्रति पक्षपात को अदूरदर्शितापूर्ण तथा खतरनाक समझते थे। और भारतीयों का उन के प्रति व्यवहार तो इसी बात का एक दृष्टांत था कि राजनीति में कृतज्ञता जैसी कोई वस्तु नहीं है।

रोलैट ऐक्ट

मैं पहले कह चुका हूं कि उन्नति का मार्ग सीधा और सरल नहीं होता। इस बात का सन् १९१९ में एक और प्रमाण मिला। रोलैट कमेटी की सिफ़ारिशों के अनुसार लेजि-

स्लेटिव कौंसिल में एक बिल पेश हुआ जिस की धाराएं नागरिकों की स्वाधीनता के लिए बड़ी घातक थीं। उस के खिलाफ़ देश भर में बड़ी नाराज़ी फैली। कौंसिल के हर एक ग़ैर-सरकारी भारतीय सदस्य ने, चाहे वह निर्वाचित रहा हो और चाहे नामज़द, बिल का विरोध किया। परंतु सरकार अपनी ज़िद से टस से मस न हुई और सरकारी मेंबरों के बहुमत के ज़ोर से बिल पास हो गया। यह क़ानून केवल तीन साल के लिए पास किया गया था और इस तीन साल के अर्से में सरकार को भारत भर में कहीं भी किसी भी समय इस क़ानून की किसी भी धारा का उपयोग करने की आवश्यकता नहीं पड़ी। यही इस बात को स्पष्ट कर देता है कि भारतीयों के एक स्वर से इतना घोर तथा प्रबल विरोध करने पर भी सरकार का उसे हठपूर्वक पास कराना कितनी बुद्धिहीनता का कार्य था। सरकार के इस स्वेच्छाचारितापूर्ण कार्य के परिणाम-स्वरूप कैसी-कैसी महान घटनाएं घटीं, यह अगले परिच्छेद का विषय है।

बाल गंगाधर तिलक

अब इस काल के प्रमुख राजनीतिक व्यक्तियों का उल्लेख कर देना आवश्यक है। कहना न होगा कि जिन कार्यकर्ताओं का उल्लेख पहले किया जा चुका है, उन में से अनेकों की क्रियाशीलता इस काल में भी जारी रही। इसी प्रकार जिन का अब वर्णन किया जा रहा है, उन में से कुछ पिछले परिच्छेद के समय में भी काफ़ी कार्यशील थे। अस्तु, इन वर्षों में जिन नेताओं का उन के देशवासियों के विचारों तथा कार्यों पर सब से अधिक प्रभाव रहा, उन में सब से प्रमुख स्थान निस्संदेह श्री तिलक का है। वे सच्चे महाराष्ट्र थे और जन्म से ही योद्धा थे। उन्हें स्वतंत्रता से गहरा प्रेम था और यही उन के जीवन की केन्द्रीभूत प्रेरणा रही। उन का यह विचार था कि सरकार कोई कितना ही अच्छा कार्य क्यों न करे, भारतीयों को उस की प्रशंसा न करनी चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से आंदोलन की तीव्रता कम हो जायगी। इसलिए उन के सार्वजनिक रूप से

प्रकट किए गए विचार, जो कि राजनीतिक उद्देश्य से प्रकट किए जाते थे, और उन के असली तथा प्राइवेट में प्रकट किए जानेवाले विचार सदा एक ही नहीं होते थे। वे बंगाल के वहिष्कार आंदोलन के विरुद्ध थे क्योंकि वे वहिष्कार को असंभव मानते थे, परंतु सार्वजनिक रूप से वे उस के सब से कट्टर समर्थकों में थे। वे मांटेगू ऐक्ट से संतुष्ट थे, परंतु सार्वजनिक रूप से कभी ऐसा नहीं कहते थे। उन की बुद्धि बड़ी ही प्रखर थी और वे जो कुछ भी करते थे, बड़ी दृढ़ इच्छा-शक्ति तथा अदम्य निश्चय के साथ करते थे। वे जिस कार्य को हाथ में ले लेते थे, जिस उद्देश्य को अपने सम्मुख रख लेते थे, उस की पूर्ति के लिए जैसे भी साधन की आवश्यकता हो, वे उस का उपयोग कर सकते थे। वे अधिनायक तो अच्छे थे, परंतु सहयोगी अच्छे नहीं थे। जो उन का आधिपत्य स्वीकार कर लेते थे उन्हीं की उन से पट पाती थी। उन के लिए अपने अनुयायियों का नेतृत्व करने की अपेक्षा अपने बराबर वालों के साथ सहयोगपूर्वक कार्य करना अधिक कठिन था। मराठी का साप्ताहिक 'केसरी' उन के हाथ में एक भारी शक्ति थी, और जो भी उन की बात नहीं मानता था या उन के रास्ते पर नहीं चलता था उस के विरुद्ध उस का उपयोग करने में वे संकोच नहीं करते थे। उन के समकालीनों में कोई दूसरा व्यक्ति ऐसा नहीं था जिस की उन से अधिक प्रशंसा हुई हो या जिस का नेतृत्व उन की अपेक्षा अधिक भक्तिपूर्वक स्वीकार किया गया हो या जिसे उन से अधिक घृणा का पात्र बनना पड़ा हो। सरकार उन्हें भारत में ब्रिटिश शासन का मुख्य शत्रु समझती थी। मि० मांटेगू ने मुझ से कहा था कि उन्हों ने श्री तिलक के विचारों तथा कार्यों का पूरा लेखा पढ़ा था और वे इस परिणाम पर पहुंचे थे कि भारत में वास्तविक उग्रतावादी केवल एक व्यक्ति था और वह व्यक्ति श्री तिलक थे। अपने विचारों तथा कार्यों का मूल्य भी उन्हों ने अपने किसी भी समकालीन की अपेक्षा अधिक महँगा चुकाया। लेकिन हर हालत में वे [illegible]

स्वतंत्रता के झंडे को निर्भीकता से ऊँचा उठाए रहे। जिस ध्येय को उन्हों ने अपना जीवन अर्पित कर दिया था उसी की पूर्ति में उन्हों ने अपना जीवन पूरी तरह खपा दिया। उन के समय का कोई अन्य व्यक्ति उन से अधिक वाद-विवादों का केंद्र नहीं बना। परंतु इतिहासज्ञ को यह बात स्वीकार करनी पड़ेगी कि वे उन मनुष्यों में से एक थे जिन्हों ने अपने अदम्य साहस तथा आजीवन सेवा-कार्य से भावी भारत की नींव रखी है। किसी का उन से कितना ही मतभेद क्यों न हो, कोई भी जो भारत के राष्ट्रीय आंदोलन का विचार करेगा, बाल गंगाधर तिलक को अवश्य स्मरण करेगा और उन्हें नवीन भारत के राष्ट्र-निर्माताओं में निस्संदेह बहुत ऊँचा स्थान देगा।

लाजपत राय

लाजपत राय का पंजाब के सार्वजनिक जीवन में आधिपत्य था। आर्य-समाज के एक सदस्य की हैसियत से उन्हों ने लाहोर के दयानंद एंग्लो-वैदिक कॉलेज के लिए बड़ा त्याग किया था। वे कट्टर समाज-सुधारक थे, पत्रकार थे और प्रभावशाली वक्ता थे। वक्ता के स्वरूप में उन का स्मरण करते ही मुझे लायड जॉर्ज का स्मरण हो आता है। जनता में क्रोध की भावना उत्पन्न कर देने में दोनों की शक्ति एक ही जैसी थी। लाजपत राय के उर्दू भाषण जनता पर जैसा जोश पैदा करनेवाला प्रभाव डालते थे, वैसा प्रभाव डाल सकनेवाले भाषण मैं ने बहुत कम सुने हैं। उन के कुछ उर्दू भाषणों की तुलना मि० लायड जॉर्ज के लंदन की सभाओं में दिए गए व्याख्यानों से ही की जा सकती है। सन् १९१२ में पटना की कांग्रेस में एक ही विषय पर लगातार तीन भाषण हुए थे जिन में से प्रत्येक की अपनी कुछ विशेषता थी। मि० गोखले उस साल प्रवासी भारतीयों की परिस्थिति का अध्ययन करने के लिए दक्षिण अफ्रीका गए थे। उन्हों ने उन के विषय में प्रस्ताव पेश करते हुए ४५ मिनट तक अंग्रेज़ी में भाषण किया। मैं ने उन्हें किसी अन्य अवसर पर इतने धारा प्रवाह, इतनी भावुकता,

इतने जोश और इतने रोष के साथ बोलते नहीं सुना। वैसे तो उन का प्रत्येक भाषण ही बुद्धि-विलास का चमत्कार होता था, परंतु यह विशेष रूप से था। मैं ने उन्हें इतना उत्तेजित और कभी नहीं देखा। उन के बाद पंडित मदन मोहन मालवीय ने हिंदी में भाषण किया। उन्हों ने दक्षिणी अफ़्रीका के भारतीयों पर होनेवाले अत्याचारों का ऐसा कारुणिक वर्णन किया कि प्रायः सभी श्रोताओं की आँखें भीग गईं। उन के इस भाषण का जिस के हृदय पर प्रभाव न पड़ा होगा उस का हृदय मानव का हृदय न रहा होगा। उन के बाद लाला लाजपत राय का उर्दू में भाषण हुआ जो सब से अधिक पुरुषत्वपूर्ण था। उस ने लोगों की उत्तेजना को इतना जागृत कर दिया था कि मुझे उस समय यह विचार हुआ था कि अगर इस समय यहां कोई दक्षिणी अफ़्रीका का गोरा होता, तो उस की जान की ख़ैर न रहती। लाजपत राय पर सरकार की अकृपा काफ़ी रही। महायुद्ध के वर्षों में तथा उस के बाद कोई डेढ़ साल तक वे एक प्रकार से अपने देश से निर्वासित ही रहे। जब उन्हें लौट आने की आज्ञा मिल गई, तो उन्हों ने आते ही अपना सदा का काम शुरू कर दिया। असहयोग तथा पार्लामेंटरी कार्य-पद्धति के बीच वे बार-बार कभी इधर कभी उधर झुकते रहे। एक बात में उन का अपने कतिपय कांग्रेसी सहकारियों से सदा मतभेद रहा। उन्हों ने हिंदू हितों की कभी भेंट नहीं चढ़ाई। वे हिंदू-मुसलिम ऐक्य के लिए किसी से कम उत्सुक नहीं थे, परंतु उन का यह विश्वास कभी नहीं रहा कि हिंदू हितों की हानि का भारी मूल्य चुका कर एकता को ख़रीदा जाय। उन की मृत्यु बड़ी दुःखजनक परिस्थिति में हुई। लाहौर में साइमन कमीशन के बहिष्कार संबंधी प्रदर्शन में भाग लेते समय उन पर आक्रमण किया गया जिस से उन्हें चोट आई और उस के बाद वे एक पखवारे से अधिक जीवित नहीं रहे। मैं उन लोगों में हूं जिन का विश्वास है कि यह घटना उन की मृत्यु को निकट लाने का कारण बनी। पंजाब में उन्हों ने अपना

कोई उत्तराधिकारी नहीं छोड़ा और सारे देश की उन के निधन से हानि हुई है।

इन वर्षों के प्रमुख कार्यकर्त्ताओं में अमरावती के मि० मधोलकर भी थे। वे २१ वर्ष तक कांग्रेस के भक्त रहे और सन् १९१२ में पटना में उस के अध्यक्ष भी हुए थे। उन के विचार नरम दल वालों के विचार थे। मैं उन के साथ अमरावती में तीन वर्ष से कुछ अधिक समय तक रहा था और मैं कह सकता हूं कि उन की देश-हित की लगन बड़ी सची और स्थायी थी और अपने देशवासियों की दशा सुधारने के लिए वे सतत प्रयत्नशील रहते थे। राजनीति, शिक्षा, समाज-सुधार तथा औद्योगिक विकास, सभी में उन्हें समान रूप से अनुराग था। उन के अपने प्रांत बरार में तो उन से बड़ा देशभक्त दूसरा नहीं हुआ।

आर० एन० मधोलकर

बंगाल में बाबू मोतीलाल घोष और बाबू अश्विनी कुमार दत्त का उल्लेख आवश्यक है। बाबू मोतीलाल घोष का उन के पत्र 'अमृत बाज़ार-पत्रिका' के द्वारा बड़ा भारी प्रभाव था। उन का आलोचना का ढंग अनोखा ही था। वे न तो भाषा के लालित्य को महत्व देते थे, न विद्वत्ता का प्रदर्शन करते थे, न तर्क देते थे और न ऐसी भाषा का प्रयोग करते थे जिस का अर्थ समझने में साधारण पाठक को किसी तरह की कठिनाई हो सके। सीधी-सादी भाषा, सरल शब्द और छोटे-छोटे वाक्य, यह थी मोतीलाल घोष की शैली। लेकिन उन की कहानियां ग़ज़ब ढा देती थीं। कहानियों की सहायता से लोगों को हास्यास्पद बना देने की कला में वे अद्वितीय थे और उन का कहानियों का भांडार अपार था। विचारों में वे उग्रतावादी थे। यद्यपि सभाओं में वे बहुत ही कम भाषण करते थे, परंतु बंगाल में उन का प्रभाव इतना ज़बर्दस्त था जितना सुरेंद्रनाथ बनर्जी तथा सी० आर० दास के अतिरिक्त और किसी का नहीं हुआ।

मोतीलाल घोष

अश्विनी कुमार दत्त

वारीसाल के अश्विनीकुमार दत्त, जो कि १६०८ में निर्वासित किए जानेवाले नेताओं में थे, अपने चरित्र-वल के द्वारा ही एक शक्ति वन गए थे। उन्हें शिक्षा में बड़ा विश्वास था और अपने नगर में उन्हों ने अपने पिता के नाम पर एक कालेज की स्थापना की थी। वे परम धार्मिक प्रवृत्ति के सज्जन थे, और कोई ऐसा कार्य न करते थे जिसे वे पूरी सच्चाई और ईमानदारी के साथ न कर सकते हों। सार्वजनिक क्षेत्र में उन्हों ने अपने किसी विचार या कार्य पर स्वार्थ की झलक भी नहीं पड़ने दी। वंग-भंग के बाद जिस समय उन की विशेष ख्याति हुई, उन्हें कांग्रेस में सम्मिलित हुए बीस वर्ष हो चुके थे। चूंकि वे पूर्वीय बंगाल के निवासी थे, जिसे मुख्य प्रांत से अलग किया जा रहा था, उन्हें वंग-भंग से विशेष रूप से चोट पहुँची थी। उन्हों ने अपने प्रांत में होनेवाला हृदयहीन दमन अपनी आंखों देखा था और वे स्वयं भी अधिकारियों की नाराज़ी के शिकार हुए थे। वंग-भंग विरोधी आंदोलन के नेताओं में उन का महत्व-पूर्ण स्थान था। उन के ज़िले में उन की लगन तथा निस्स्वार्थता और उन के त्याग का जनता पर इतना प्रभाव पड़ा था कि उस के लिए उन का शब्द ही क़ानून हो गया था। बंगाल विदेशी नमक पर निर्भर रहता था, परंतु वारीसाल में वहिष्कार ऐसा ज़ोरदार हुआ कि दूकानदार कोई भी विदेशी वस्तु बेचते ही न थे। विदेशी नमक कोई वेचता न था और देशी नमक मिल नहीं रहा था। ज़िले के कलक्टर को अपने भोजन के लिए नमक न मिल सका और उसे अश्विनीकुमार दत्त से प्रार्थना करनी पड़ी कि वे एक दूकानदार को उन्हें नमक वेचने की आज्ञा दे दें। अश्विनीकुमार दत्त स्वयं जब देशी नमक नहीं मिलता था तो विना नमक के भोजन कर लेते थे। उन का जीवन त्याग का जीवन था, और उन का चरित्र तथा उन का देशप्रेम बंगाल के इतिहास में सुवर्णाक्षरों में अंकित हैं।

८

अन्य सार्वजनिक कार्यकर्ता

सर रासबिहारी घोष कांग्रेस में सम्मिलित तो सन् १८८६ में ही हो गए थे, लेकिन लगभग २० वर्ष तक उन्हों ने उस में विशेष सक्रिय रूप से भाग नहीं लिया। सार्वजनिक कार्यकर्ताओं में वे सब से अधिक साहित्य-प्रेमी थे और इसीलिए उन के भाषणों को पढ़ने में बड़ा आनंद आता है। साहित्यिक छटा के अतिरिक्त उन के भाषणों में योग्यता, बुद्धिमत्ता तथा विचार-स्वातंत्र्य भी हैं। सर रासबिहारी घोष तथा सर तारकनाथ पालित ने कलकत्ता विश्वविद्यालय को जैसी उदारतापूर्वक दान दिए थे उस के कारण भारत उन्हें सदा कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करेगा।

लॉर्ड सिनहा ने सार्वजनिक कार्यकर्ता की दृष्टि से तो कभी विशेष उत्साह नहीं दिखाया, परंतु उन के उल्लेख के बिना इस समय की कथा अधूरी ही रह जायगी। कलकत्ता हाईकोर्ट के वकीलों में उन का स्थान सब से ऊंचा था। उन की अपने मामले की वकालत करने की शक्ति अद्भुत थी। उस के टक्कर की वकालत की शक्ति मैं ने नहीं देखी, सिवाय श्री गोखले की सार्वजनिक विषयों की वकालत के। लॉर्ड सिनहा कांग्रेस के मंच पर केवल दो बार आए थे, सन् १८९६ में और दूसरी बार सन् १९१५ में जब कि वे उस के अध्यक्ष थे। जितने उच्च सरकारी पदों पर वे पहुँचे उतनों पर और कोई भारतीय नहीं पहुँचा। लेकिन यह भी सच है कि उन्हों ने कभी किसी पद को पाने के लिए कोशिश नहीं की। वे उन के पास बिना बुलाए आए। और कुछ तो उन से दोस्तों ने ज़बर्दस्ती स्वीकार कराए। लॉर्ड सिनहा में ऐसा बुद्धि-बल तथा चरित्र-बल था कि भारत की भांति ही इंगलैंड में भी उन्हें प्रशंसा तथा सम्मान की प्राप्ति होना उचित ही था।

पूना के राव बहादुर जी० वी० जोशी को यथेष्ट ख्याति नहीं मिली। एक सरकारी हाई स्कूल के हेड मास्टर होते हुए भी उन्हों ने आंकड़ों के अध्ययन में बड़ा समय लगाया था और कई अत्यंत महत्वपूर्ण सार्वजनिक

प्रश्नों की पूरी-पूरी जानकारी हासिल कर ली थी। वे 'जे' के नाम से, जिसे सब पहचानते थे, पत्रों में लेख लिखा करते थे और सार्वजनिक प्रश्नों का कोई भी विद्यार्थी उन के किसी लेख को पढ़े बिना न रहता था। श्री रानाडे तथा श्री गोखले दोनों को अपने आर्थिक विषयों संबंधी कार्य में उन से बड़ी सहायता मिली थी। नौकरी से अवकाश ग्रहण करने के बाद वे श्री तिलक के दल में सम्मिलित हो गए। उन के लेखों की एक मोटी जिल्द है, और भारतीय मामलों का गंभीर अध्ययन करनेवाला कोई व्यक्ति उस की उपेक्षा नहीं कर सकता।

दीवान बहादुर गोविंद राघव ऐयर (मद्रास) ने १९०१ में सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया और शीघ्र ही कांग्रेस में भी और लेजिस्लेटिव कौंसिल में भी उन्हें प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त हो गया। वे अच्छे वक्ता थे, समझदार थे और बुद्धिमान परामर्शदाता थे। वे धार्मिक प्रकृति के थे और विचारों में उदार थे तथा विशेष धनवान न होते हुए भी दान देने में भी उदार थे। अंतिम गुण उन में इतना अधिक था कि अपने जीवन के अंतिम वर्ष उन्हें आर्थिक कष्ट में बिताने पड़े थे। उन से अधिक ईमानदार, अधिक सच्चा और अधिक संकोचशील व्यक्ति मैं ने दूसरा नहीं देखा। जिस का भी उन से परिचय हो जाता था वह उन का सम्मान तथा उन से प्रेम किए बिना नहीं रह सकता था।

सज्जन बड़े ज़ोरदार वक्ता थे। अंबिकाचरण मजूमदार ने राष्ट्रीय आंदोलन का इतिहास लिखा है। उन की भाषण-शैली का यहां एक उदाहरण दे देना अप्रासंगिक न होगा। सन् १८९७ में अमरावती की कांग्रेस में राज-विद्रोह संबंधी बिल का विरोध करते हुए उन्हों ने कहा था—

सज्जनो, हम किस लिए और किस के लिए राजविद्रोह करेंगे? क्या अब भी कहीं देश में मुग़लों की छाया मंडरा रही है और हमें दिल्ली की ध्वस्त दीवारों पर चांद का झंडा ऊंचा करने का इशारा कर रही है? क्या अब भी दक्षिण में कोई पेशवा मौजूद है और महाराष्ट्र साम्राज्य की स्थापना का स्वप्न देख रहा है? अगर नहीं, तो फिर हम किस के लिए राजविद्रोही बनेंगे? सज्जनो, उस जाति में जन्म ग्रहण कर के जिस के पूर्वजों ने अपने नरेशों के कल्याण के लिए अपने प्यारे बच्चों की भेंट दे दी है, हम उन लोगों से राजभक्ति का पाठ नहीं पढ़ना चाहते जिन की स्वतन्त्रता शाही .खून से रँगी हुई है।

बाबू विपिनचंद्र पाल पत्रकार भी थे और व्याख्यानदाता भी। वर्षों तक वे बड़े उग्र विचारों के रहे, परंतु अपने जीवन के अंतिम वर्षों में उन्हों ने उग्र विचारों का भी साथ छोड़ दिया था और कांग्रेस का भी। इस समय के अन्य सार्वजनिक कार्यकर्ताओं में नागपुर के सर गंगाधर चिट-नवीस तथा सर विपिनकृष्ण बोस और विज़ागापट्टम के सर नरसिंह शर्मा थे।

समाचार-पत्र

प्रेस संबंधी क़ानूनों की वजह से, इस समय समाचार-पत्र पहले से भी अधिक बंधन में रहे। बावजूद इस के समाचार-पत्रों का प्रभाव बढ़ा और उन्हों ने राष्ट्रीय उन्नति के कार्य में योग्यता तथा वफ़ादारी के साथ सहयोग प्रदान किया। मद्रास में अपने नए स्वामी श्री कस्तूरीरंग ऐयंगर के हाथों में 'हिंदू' ने बड़ी उन्नति की। दीवान बहादुर करुणाकर मैनन ने, जो ८-९ वर्ष श्री सुब्रह्मण्य ऐयर की नायबी में काम कर चुके थे, उन के बाद प्रायः सात वर्ष तक 'हिंदू' का संपादन किया। फिर उन्हों ने 'इंडिअन पैट्रिअट' नामक अपना

दैनिक पत्र निकाला। दुर्भाग्य से वह अधिक समय तक जीवित न रह सका, परंतु जितने वर्ष वह चला, उस का स्थान ऊंचा रहा और अपने समय में वह देश का सब से अधिक विचारशील पत्र माना जाता था। मि० करुणाकर मैनन उन सज्जनों में से थे, जिन्हों ने भारत में पत्रकार-कला को गौरव प्रदान किया है। मिसेज़ बेसेंट ने 'मद्रास स्टैंडार्ड' का 'न्यू इंडिया' के रूप में संचालन करने के अतिरिक्त 'कॉमनवील' नाम का एक सुंदर साप्ताहिक पत्र भी निकाला, जिस ने वर्षों तक बड़ा अच्छा कार्य किया। बंबई में सर फ़ीरोज़शाह मेहता ने 'बांबे क्रानीकिल' को जन्म दिया और मि० हार्नीमेन उस के सफल संपादक हुए। संयुक्त प्रांत में पंडित मदनमोहन मालवीय ने 'लीडर' की स्थापना की। पंजाब में 'ट्रिब्यून' ने अपने प्रांत की ही नहीं, सारे देश की बड़ी सेवा की। तामिल प्रांत में 'स्वदेशमित्रन' ने जनता को शिक्षित करने का बड़ा काम किया। दक्षिण में 'केसरी' का ख़ूब प्रभाव रहा। बंगला के कई पत्रों का भारत की कसौटी से बड़ा अच्छा प्रचार हुआ। 'गुजराती' के अंग्रेज़ी कालमों के द्वारा श्री नारायण विष्णु गोखले ने देश की बड़ी सेवा की। ये बड़े ही सज्जन थे और जैसे योग्य थे वैसे ही चरित्रवान। और बड़े पक्के लिबरल थे।

चतुर्थ परिच्छेद

असहयोग आंदोलन और उस के बाद

(१९१९—१९३५)

निष्क्रिय प्रतिरोध

रोलैट बिल के पास होने का परिणाम यह हुआ कि श्री गांधी भारत के राजनीतिक रंगमंच पर आ गए। वे दक्षिण अफ्रीका से निष्क्रिय प्रतिरोध की शक्ति में निस्सीम तथा ला-इलाज विश्वास ले कर लौटे थे और छोटी मात्रा में बारदोली (गुजरात) तथा चंपारन (बिहार) के स्थानीय मामलों को ले कर अपने तत्संबंधी अभ्यास को ताज़ा भी कर चुके थे। वहां उन्हें जो सफलता मिली, उस से उन्हें यह विचार हुआ कि उस का अन्य अवसरों पर भी तथा बड़ी मात्रा में प्रयोग किया जाय। रोलैट ऐक्ट के विरुद्ध उन्हों ने सत्याग्रह प्रारंभ कर दिया। जिन से उन्हों ने परामर्श लिया था उन में से कुछ ने उन्हें यह चेतावनी दे दी थी कि देश में अंग्रेज़ों के विरुद्ध इतनी अधिक नाराज़ी की भावना है और उन की सत्याग्रह संबंधी बारीकियों की इतनी कम जानकारी है कि उन के सत्याग्रह आंदोलन उठाने का परिणाम यह होगा कि इतनी अधिक अशांति फैल जायगी कि फिर वे उस का नियंत्रण न कर सकेंगे। एक सज्जन ने उन से यह भी कहा था कि सत्य तो केवल उन के हिस्से में रहेगा और आग्रह उन के अनुयायी करेंगे।

परंतु उन्हों ने इन आपत्तियों को कोई महत्व नहीं दिया और आंदोलन का श्रीगणेश कर दिया। परिणाम जितना कि उन्हें चेतावनी देनेवालों ने समझा था उस से कहीं बुरा हुआ। लाहोर, अमृतसर, अहमदाबाद तथा अन्य स्थानों में दंगे हो गए। इन में धन-जन का नाश हुआ और ऐसे उत्पात हुए जो किसी सभ्य समाज के लिए लज्जाजनक ही हो सकते हैं। इन घटनाओं से श्री गांधी को बड़ा दुःख हुआ और अपूर्व नैतिक साहस के साथ उन्हों ने सार्वजनिक रूप से यह स्वीकार कर लिया कि उन से हिमालय जैसी महान भूल हुई थी। सर माइकेल ओडायर उस समय पंजाब के लाट थे। न तो उन का दृष्टिकोण ही प्रगतिशील था और न उन के स्वभाव में सहानुभूति की ही विशेष मात्रा थी। उन में राजनीतिज्ञ की बुद्धिमत्ता नहीं थी, दृढ़तापूर्ण शासन में विश्वास था। महायुद्ध के लिए रंगरूट प्राप्त करने में आवश्यकता से अधिक उत्साह दिखा कर वे प्रांत को पहले ही काफ़ी नाराज़ कर चुके थे। और अब अगर जनता ने ज्यादतियां कीं तो सरकार भी अत्याचार करने में पीछे नहीं रही।

मार्शल लॉ

मार्शल लॉ यानी फ़ौजी क़ानून या दूसरे शब्दों में बिना क़ानून का शासन जारी कर दिया गया और उसे इतनी अधिक कड़ाई और सख़्ती से बरता गया कि सारे देश में नाराज़ी की लहर फैल गई। अनेक पाशविकतापूर्ण कार्य हुए, जिन में सब से अधिक जघन्य था जलियानवाला बाग़ (अमृतसर) में जनरल डायर का कृत्य। अगले साल हंटर कमेटी के सम्मुख, और उस से भी अधिक कांग्रेस की जांच कमेटी के सामने, जो गवाहियां गुज़रीं उन से यह भली भांति स्पष्ट हो गया कि अधिकारियों ने जनता को चोट पहुंचाने तथा अपमानित करने में कितनी ज़्यादती की थी। सर चिमनलाल सीतलवाड़ ने, जिन्हें सदा नपे-तुले शब्दों का व्यवहार करने तथा विरोधी के प्रति अधिक से अधिक उदार भाव प्रकट करने की आदत रही है, इस संबंध में यह लिखा था :—

जलियानवाला बाग़ में भीड़ को वहां से हट जाने का अवसर दिए बिना सैकड़ों आदमियों का गोलियों से भून दिया जाना, घायल होने-वाले सैकड़ों व्यक्तियों के प्रति जनरल डायर की पूर्ण उपेक्षा, भागते हुए लोगों पर मशीनगनों से गोलियों की बौछार, लोगों का सरे-आम कोड़ों से पीटा जाना, हज़ारों विद्यार्थियों को हाज़िरी देने के लिए रोज़ १६ मील चलने के लिए बाध्य करना, पाँच से सात वर्ष तक के बच्चों को फ़ौज़ी परेड के समय सलामी देने के लिए बुलाना, मकानों के मालिकों को उन की दीवारों पर लगे हुए मार्शल लॉ के पर्चों की रक्षा के लिए ज़िम्मेदार ठहराना, एक बारात की बारात को कोड़े लगाना, चिट्ठी-पत्रियों पर रोक, बादशाही मसजिद का छः सप्ताह के लिए बन्द कर दिया जाना, लोगों का बिना यथेष्ट कारण के गिरफ़्तार तथा नज़र-बंद किया जाना और विशेष कर उन लोगों का जिन्हों ने महायुद्ध के समय सरकार की धन-जन से सहायता की थी, इसलामिया स्कूल के छः विद्यार्थियों को केवल इसलिए कोड़े लगाए जाना कि वे अपने स्कूल के लड़कों में सब से बड़े थे, गिरफ़्तार किए गए लोगों को बन्द कर के रखने के लिए पिंजड़े का बनवाया जाना, हाथ-पैर के बल चलने जैसी नायाब सजाओं की ईजाद, लोगों के हथकड़ियां डाल कर और उन्हें रस्सी से बांध कर बिना छत की गाड़ियों में १५-१५ घंटे रखना, निश्शस्त्र नागरिकों के विरुद्ध वायुयानों, लैविस-गन तोपों तथा युद्ध के आधुनिक-तम साधनों का प्रयोग, संदिग्ध लोगों की गिरफ़्तारी के लिए दूसरों को हिरासत में रखना और सम्पत्ति की ज़ब्ती तथा बर्बादी, हिंदू-मुस्लिम एकता के फल का प्रदर्शन करने के लिए हिंदुओं और मुसलमानों की जोड़ियां बना कर उन्हें हथकड़ियां पहनाना, हिन्दुस्तानियों के घर बिजली तथा पानी न पहुँचाने देना, उन की सवारियां छीन कर यूरो-पियनों को अपने काम में लाने के लिए दे देना, मुक़द्दमों का बेहद तेज़ी से फैसला ताकि मार्शल लॉ की अवधि समाप्त होते-होते सब को सज़ा

दे दी जाय—मार्शल लॉ के शासन की जिन बहुत सी बातों ने पंजाब में आतंक का साम्राज्य स्थापित कर दिया था और सारे देश के लोकमत को स्तंभित कर दिया था उन के ये कुछ नमूने हैं ।

असहयोग

मैं हंटर कमेटी का उल्लेख कर चुका हूं । यह कमेटी मार्शल लॉ के शासन के संबंध में जांच करने के लिए नियुक्त हुई थी और लॉर्ड हंटर इस के चेअरमैन थे । इस के भारतीय सदस्यों --सर चिमनलाल सीतलवाद, पंडित जगत नारायण और सर सुलतान अहमद ने कमेटी के अधिकांश सदस्यों से मत न मिलने के कारण अपनी अलग रिपोर्ट लिखी थी । कमेटी की रिपोर्ट पर जो कार्यवाही की गई, वह नाकाफ़ी थी और उस से लोकमत को संतोष नहीं हुआ । इसी समय यूरोप में सेवर्स की संधि द्वारा टर्की का अंग-भंग कर देने की बात उठी हुई थी जिस की वजह से हिंदुस्तान के मुसलमानों की क्रोधाग्नि भड़क उठी । श्री गांधी ने, जो मौक़ा चूकनेवाले नहीं हैं, इन दोनों बातों को ले कर, यानी सरकार का पंजाब के मामले में न्याय न करना और टर्की के साथ सख़्ती का बर्ताव, सरकार के साथ असहयोग करने की घोषणा कर दी । अमृतसर की कांग्रेस (दिसंबर १९१९) में इस बात पर गरमागरम बहस हुई थी कि नवीन गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया ऐक्ट (मांटेगू सुधारों) को कार्यान्वित करने में सहयोग किया जाय या नहीं । वहां श्री तिलक और श्री गांधी दोनों सहयोग के पक्ष में थे । लेकिन फिर श्री गांधी ने अपना मत बदल लिया और वे ज़ोरों से असहयोग का प्रचार करने लगे । श्री तिलक उन के एक प्रबल विरोधी थे । अगर श्री तिलक श्री गांधी के आंदोलन का विरोध करने के लिए जीवित रहते, तो कांग्रेस के अंदर तथा उस के बाहर देश में क्या घटनाक्रम चलता, इस प्रश्न पर विचार करना अब कल्पना-क्षेत्र का ही विषय हो सकता है । परंतु भाग्य श्री गांधी के अनुकूल थे । श्री तिलक का १ अगस्त, १९२० को स्वर्गवास हो गया और उन के बाद कोई ऐसा व्यक्ति नहीं बचा जिस

का विरोध उतना या उस से आधा भी कारगर हो सकता। सितंबर, १६२० में लाला लाजपतराय की अध्यक्षता में असहयोग के प्रस्ताव पर विचार करने लिए कलकत्ता में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ। पंडित मोतीलाल नेहरू पहले तो असहयोग के विरुद्ध थे, परंतु जब तक प्रस्ताव कांग्रेस के सम्मुख आया तब तक वे उस के समर्थक बन गए। लाला लाजपतराय ने अपने सभापति के पद से किए गए भाषण में तो असहयोग का विरोध ही किया था, परंतु अधिवेशन की समाप्ति पर उन का जो भाषण हुआ, वह इस विषय में इतना स्पष्ट नहीं था। पंडित मदनमोहन मालवीय तथा मिस्टर सी० आर० दास ने प्रस्ताव का शुरू से आख़िर तक विरोध किया, परंतु बहुमत उन के विरुद्ध था और कांग्रेस ने असहयोग को स्वीकार कर लिया। इस का परिणाम यह हुआ कि नई कौंसिलों के लिए दो महीने बाद जो पहला चुनाव हुआ उस में कांग्रेस ने भाग नहीं लिया। श्री गांधी का रण-मंत्र तो अहिंसात्मक असहयोग था, परंतु कांग्रेसवादियों ने निर्वाचन में भाग लेने की धृष्टता करनेवालों को तंग और अपमानित करने के लिए इतने अधिक जोश के साथ हस्तक्षेप किया कि वह आपत्तिजनक तो था ही, उसे अहिंसात्मक कहना भी कठिन ही है। उन के नेता ने सब से आगे बढ़ कर उन की 'गुलामी की मनोवृत्ति' की निंदा की, परंतु उन के अनुयायियों की दृष्टि में उन की नैतिक बारीकियों का कोई महत्व नहीं था। मैं यह बात अपनी जानकारी से कहता हूं कि जिन में 'गुलामी की मनोवृत्ति' नहीं थी, जो किसी नेता की बातों को आंखें बंद कर के मान लेने के बजाय स्वयं अपनी विचार-शक्ति से काम लेने का साहस करते थे, उन के मार्ग में बाधाएं उपस्थित करने के लिए अपरिमित अहिंसात्मक हिंसा अथवा हिंसात्मक अहिंसा का प्रयोग किया गया। जहां उन के नेता ने सचाई तथा अहिंसा पर ज़ोर दे कर उन की स्वतंत्रता का अपहरण कर लिया वहां की बात दूसरी है। दिसंबर, १६२० की कांग्रेस में विशेष अधिवेशन वाले प्रस्ताव की पुनरुक्ति

हो कर असहयोग की नीति कांग्रेस की निश्चित नीति हो गई। नागपुर में मिस्टर सी० आर० दास ने भी अपने विरोध का अंत कर के बहुमत को स्वीकार कर लिया।

लिबरल पार्टी

मैं कह चुका हूं कि कांग्रेस के पुराने दल वालों ने १९१८ में कांग्रेस के बंबई वाले अधिवेशन में भाग न लेने का जो निर्णय किया था, उस का अर्थ यह न था कि वे सदा के लिए कांग्रेस से पृथक हो जायँगे, परंतु घटनाक्रम ने उन्हें ऐसा करने को मजबूर कर दिया। दिसंबर, १९१८ में पंडित मदन मोहन मालवीय की अध्यक्षता में दिल्ली में जो कांग्रेस का अधिवेशन हुआ उस में मांटेगू-चेम्सफ़ोर्ड योजना के विरुद्ध विशेष अधिवेशन वाला प्रस्ताव दोहराया गया और देश में कांग्रेस से अलग होनेवालों के विरुद्ध इतना घोर आंदोलन हुआ कि दोनों दलों का फिर से एक हो जाना और भी कठिन हो गया। दोनों के बीच स्वभाव का, दृष्टिकोण का तथा नीति का जो भेद था वह नित्य प्रति अधिकाधिक स्पष्ट होने लगा। मिसेज़ बेसेंट, श्री गोविन्द राघव ऐयर, श्री श्रीनिवास शास्त्री और मिस्टर सी० पी० रामा-स्वामी ऐयर साल भर तक कांग्रेस में और रहे, परंतु उन की यह आशा कि वे उस में रह सकेंगे और उन के पुराने साथी भी लौट आवेंगे निष्फल सिद्ध हुई और उन्हें भी उस संस्था से अलग हो जाना पड़ा। फिर कांग्रेस ने असहयोग की नीति स्वीकार कर ली और दोनों दलों का पृथक्करण पूर्ण

कांग्रेस तथा देशभक्ति समानार्थक शब्द हो गए थे। मानव स्वभाव को देखते हुए क्या यह संभव है कि अगर उन की कर्तव्य की भावना उन्हें मजबूर न करती, तो वे अपने लिए ऐसा दुःखद प्रसंग उपस्थित होने देते ? वे जानते थे कि उन के कार्य का परिणाम यह होगा कि वे जनता में बदनाम तथा अप्रिय हो जायँगे, लेकिन यह समझते हुए भी उन्हों ने वही किया जो उन की बुद्धि तथा अन्तरात्मा के अनुसार देश-हित के लिए आवश्यक था। मैं उन लोगों में था जिन्हें यह अप्रिय निर्णय करना पड़ा था और मैं इस संबंध में जो कुछ कह रहा हूं उस का एक-एक शब्द पूरी-पूरी निजी जानकारी के आधार पर कह रहा हूं। लिबरलों के कांग्रेस से अलग होने के संबंध में उन की नीयत पर तरह-तरह के आक्षेप किए गए हैं। परंतु सार्वजनिक जीवन में भाग लेनेवालों को ग़लतफ़हमियों और कड़ी बातों के लिए तैयार रहना ही पड़ता है। मुख्य बात तो यह है कि उन में चरित्र-बल यानी अपने विश्वासों पर दृढ़ रहने का साहस होना चाहिए। मेरा तो विचार है कि लोगों का जिन विचारों में विश्वास नहीं है उन में विश्वास रखने का ढोंग करना, जिस नीति पर उन्हें अविश्वास है उस पर चलने की चेष्टा करना, यह उन व्यक्तियों के लिए, लोकमत के लिए तथा देश के लिए इस की अपेक्षा कहीं अधिक हानिकारक तथा घातक है कि वे अपने विचारों तथा विश्वासों का ईमानदारी के साथ पालन करें। हृदय में मतभेद रहते हुए ऊपर से सहमत होने में जिस ढोंग की आवश्यकता पड़ती है, उस की कोई विचारशील व्यक्ति सराहना नहीं कर सकता। मैं बीस वर्ष तक कांग्रेसमैन रहा और सत्रह वर्ष से लिबरल हूं। इन पिछले सत्रह वर्षों में जान-बूझ कर मैं ने न तो कोई ऐसी बात कही है और न कोई ऐसा काम किया है जिसे मैं ने अपने कांग्रेस वाले दिनों में न कहा हो या न किया हो या जिसे मैं उन दिनों न कह सकता या न कर सकता। और जो कुछ मैं अपने बारे में कह रहा हूं, वही दूसरे लिबरल अपनी बाबत कह सकते हैं। यद्यपि आज लिबरल कांग्रेस

में नहीं हैं, परंतु जिस अर्थ में वे पहले कांग्रेसवादी थे उस अर्थ में अब भी हैं, और उनके लिए इतना ही काफ़ी है। हर्बर्ट स्पेंसर ने सार्वजनिक कार्यकर्ताओं के लिए कहा था कि उन्हें जो ठीक मालूम दे, वही करना चाहिए; अगर जनता द्वारा प्रशंसा मिले तब तो अच्छा ही है, लेकिन अगर न मिले तो भी ठीक ही है। लिबरल भी मनुष्य हैं, उन के भी हृदय है, अपने देशवासियों की प्रशंसा का उन की दृष्टि में भी कुछ मूल्य है, परंतु अन्तरात्मा तथा बुद्धि के आदेश का मूल्य और भी अधिक है। केवल लोकप्रियता पाने ही के लिए कोई कार्य करना सार्वजनिक कार्यकर्ता के लिए सब से बड़ी कमज़ोरी है। पिछले सोलह वर्षों में कांग्रेस में तथा देश में जो कुछ हुआ है, उसे देखते हुए किसी लिबरल को न क्षमा-याचना की आवश्यकता है, न संदेह की और न असमंजस की। प्रारंभ में यह बात भले ही संदिग्ध रही हो कि उन का कार्य उचित था अथवा नहीं, परंतु बाद की घटनाओं ने, उन की समझ से, यह प्रमाणित कर दिया है कि उन का निर्णय ठीक ही था।

असहयोग तथा दमन

मि० विंस्टन चर्चिल ने आयर्लैंड के संबंध में लिखा है कि दमन की छाया में लगाए गए सुधार के पौधे की बाढ़ कहीं पोली ही हो सकती थी। भारत में भी दुर्भाग्य से सुधार तथा दमन का गँठबंधन सा हो गया है। जब १९०९ के ऐक्ट के अनुसार नई कौंसिलों की स्थापना हुई, उस समय भी आंदोलन तथा दमन ज़ोरों से चल रहे थे और नई केंद्रीय कौंसिल का सब से पहला फल था प्रेस ऐक्ट। १९१९ के मांटेगू ऐक्ट के पहले भी रौलट ऐक्ट आया, सत्याग्रह आया और मार्शल लॉ आया और उस के बाद आया असहयोग आंदोलन। जब सन् १९२१ के प्रारंभ में नई कौंसिलों की बैठकें शुरू हुईं उस समय देश में असंतोष छाया हुआ था और ऐसी भावना फैली हुई थी कि जो भी किसी कौंसिल का सदस्य था उसे जनता की नाराज़ी तथा अविश्वास का पात्र बनना पड़ा और जिस किसी ने निर्व-

स्टर अथवा एग्जीक्यूटिव कौंसिलर का पद ग्रहण कर लिया था, उसे तो विशेष रूप से निंदा का पात्र बनना पड़ा। नया विधान जारी होने के ठीक पहले सम्राट की एक सुंदर घोषणा हुई और राजनीतिक कैदियों को मुक्त कर दिया गया। परंतु इस से घाव भरा नहीं, क्योंकि मार्शल लॉ के समय होनेवाले अत्याचारों की याद अभी ताज़ी बनी हुई थी। नई केंद्रीय कौंसिल तथा नरेंद्र मंडल का उद्‌घाटन करते हुए सम्राट के पितृव्य ड्यूक आफ़ कौनॉट ने सार्वजनिक रूप से पंजाब की ज़्यादतियों के लिए खेद प्रकट किया तथा सम्राट की ओर से एक संदेश सुनाया जिस में यह स्वीकार किया गया था कि भारत में ब्रिटिश नीति का ध्येय साम्राज्यांतर्गत स्वराज्य की स्थापना है। परंतु कांग्रेस के अनुयायियों तथा समर्थकों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। असहयोग आंदोलन देश भर में ज़ोरों के साथ चला। कौंसिलों, अदालतों तथा विद्यालयों का वहिष्कार, शराब की दूकानों पर धरना और पंचायतों तथा राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना—ये कांग्रेस के कार्यक्रम की मुख्य बातें थीं। गौण बातों में खिताबों तथा आनरेरी पदों के त्याग और सरकारी जलसों आदि के वहिष्कार का ज़िक्र ही काफ़ी होगा। लोगों की उत्तेजना जाग्रत हो गई थी। क़ानून के प्रति अवज्ञा के भाव का खुले रूप से प्रचार किया गया और अधिकारियों के नैतिक प्रभाव में भारी कमी आ गई। देश के विभिन्न भागों में यत्र-तत्र गे भी हुए। जिस समय प्रत्येक कांग्रेसवादी के मुख पर हिंदू-मुसलिम ऐक्य की बात थी और महात्मा गांधी तथा अली बंधु—शौकत अली और मुहम्मद अली—घुल-मिल कर प्रायः एक हो गए थे, उसी समय मालाबार में मोपला लोगों ने उपद्रव कर डाला जिस में हिंदुओं को धन-जन की भारी क्षति सहन करनी पड़ी। सन् १९२१-२२ के शरद् काल में श्रीमान् प्रिंस ऑफ़ वेल्स भारत-भ्रमण के लिए आए। कांग्रेस ने उन के वहिष्कार का प्रचार किया और उसी के अनुसार कार्य भी हुआ। जिस दिन उन्हों ने बंबई की भूमि पर क़दम रक्खा उसी दिन रक्त-रंजित उपद्रव हो गया, जिस के

संबंध में स्वयं श्री गांधी ने कहा था कि मैं ने जो कुछ देखा उस की गंदगी से मेरी नाक सड़ गई। इस उपद्रव के पश्चात भारत-सरकार ने प्रांतीय सरकारों के नाम आज्ञा निकाल दी कि वे बिना संकोच के आंदोलन का दमन करें। उन से कह दिया गया कि क़ानून से उन्हें जो शक्तियां प्राप्त हैं उन का वे बेधड़क उपयोग कर सकते हैं और अगर वे नाकाफ़ी साबित हुईं तो जिन शक्तियों की और आवश्यकता होगी उन का भी उन के लिए प्रबंध कर दिया जायगा। कांग्रेस के स्वयंसेवकों को ग़ैर-क़ानूनी जमात क़रार दे दिया गया। जनता की ओर से इस का जवाब दिया गया भारी तादाद में स्वयंसेवकों में भरती हो कर। उन्हें हज़ारों की संख्या में जेल भेजा गया और उन में श्री सी० आर० दास तथा पंडित मोतीलाल नेहरू जैसे नेता भी थे। प्रिंस ऑफ़ वेल्स जहां-जहां जाते थे वहां दंगा न होने पावे, इस बात के लिए अधिकारियों को बड़ी सतर्कता से प्रबंध करना पड़ा। जिस समय हिंदुस्तान के हज़ारों आदमी जेल जा रहे हों, उस समय जनता में युवराज के स्वागत के प्रति उत्साह का जाग्रत होना असंभव ही था। जो विषम परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी, उस को सुलझाने के लिए, तत्कालीन वायसराय लॉर्ड रीडिंग इस बात के लिए तैयार हो गए कि एक कान्फ़रेंस हो जिस में सरकार तथा जनता के प्रतिनिधि आमने-सामने बैठ कर बातें कर सकें। जिन लोगों के प्रयत्नों से वायसराय ने यह बात स्वीकार की थी उन में भारत-सरकार के क़ानून सदस्य सर तेजबहादुर सप्रू मुख्य थे। कांग्रेस की ओर से पंडित मदन-मोहन मालवीय ने भी इस प्रकार की कान्फ़रेंस कराने के लिए सतत प्रयत्न किया था। श्री सी० आर० दास इस अवसर से लाभ उठाने के पक्ष में थे और कांग्रेस के उस साल के [illegible] कांग्रेस के कई अन्य नेताओं का भी ऐसा ही विचार था। परंतु [illegible] ने प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। [illegible] अहमदाबाद में होनेवाली कांग्रेस के [illegible]

दास निर्वाचित हुए थे, परंतु वे जेल में थे और हकीम अजमल ख़ां को जिन्हें हिंदुओं और मुसलमानों का, लिबरलों और कांग्रेसवादियों का समान रूप से सम्मान प्राप्त था, अध्यक्ष बनाया गया। सरकारी दमन के जवाब में कांग्रेस उग्रता की दिशा में और भी आगे बढ़ गई। कांग्रेस के ध्येय तक में परिवर्तन कर दिया गया, जो कि कांग्रेस से बाहर वालों के विचार में ठीक नहीं हुआ। पंडित मदनमोहन मालवीय ने भी अप्रत्याशित रूप से नए ध्येय पर हस्ताक्षर कर दिए। कांग्रेस ने सत्याग्रह की घोषणा कर दी और श्री गांधी को डिक्टेटर नियुक्त कर दिया। कांग्रेस के अधिवेशन के पश्चात परिस्थिति और भी बिगड़ती गई। उपद्रवों की संख्या बढ़ती गई और आख़िर गोरखपुर ज़िले में चौरीचौरा में भयानक दंगा हो गया। गोरखपुर की कमिश्नरी में क्रिमिनल-ला एमेंडमेंट ऐक्ट के अनुसार कोई कार्यवाही नहीं हुई थी। कमिश्नर को इस बात पर गर्व था कि उन्हों ने बिना किसी विशेष क़ानून की सहायता के अपने तीनों ज़िलों में शांति की रक्षा कर ली थी। उन्हों ने प्रांतीय सरकार को यह परामर्श भी दिया था कि उक्त ऐक्ट के अनुसार जारी की गई आज्ञा उन की कमिश्नरी से उठा ली जाय। इस के छः-सात दिन के बाद ही चौरी-चौरा कांड से उन की क्या मनःस्थिति हुई होगी? इस दंगे की पाशविकता का श्री गांधी के हृदय पर भी इतना प्रभाव पड़ा कि उन्हों ने असहयोग आंदोलन के स्थगित किए जाने तथा उस के स्थान पर रचनात्मक कार्यक्रम जारी किए जाने की घोषणा कर दी। चौरीचौरा के बाद असहयोग आंदोलन हलका पड़ने लगा और उस के स्थगित हो जाने के पश्चात कांग्रेस के अंदर यह विचार फैलने लगा कि कांग्रेसवादियों को कौंसिलों में प्रवेश कर के सरकारी कार्य में निरंतर बाधा उपस्थित करने की नीति का अवलंबन कर के 'अंदर से असहयोग' करना चाहिए। यह कह देना आवश्यक है कि इस बीच श्री गांधी तथा अली बंधु जेल जा चुके थे। श्री सी० आर० दास तथा पंडित मोतीलाल नेहरू जेल से छूट कर आए तो संभवतः

उन्हें यह अनुभव हुआ कि उन का त्याग बेकार गया और उन्हें कोई दूसरा ढंग इख़्तियार करना चाहिए जिस से सरकार पर दबाव पड़ सके। यह बात स्पष्ट हो चुकी थी कि दमन काफ़ी सफल हो गया है। परंतु कार्यक्रम में अंतिम रूप से परिवर्तन करने के पूर्व ऑल-इंडिया कांग्रेस कमेटी ने एक कमेटी इस प्रश्न पर विचार करने के लिए नियुक्त की कि "किसी रूप में सत्याग्रह या इसी तरह का कोई दूसरा कार्यक्रम शुरू करना ठीक होगा या नहीं।" हकीम अजमल खां कमेटी के अध्यक्ष थे और उस के सदस्य थे श्री मोतीलाल नेहरू, डाक्टर अनसारी, श्री राजगोपालाचार्य, श्री विट्ठलभाई पटेल और श्री कस्तूरीरंग ऐयंगार। (रिपोर्ट श्री नेहरू ने तैयार की थी।) कमेटी की रिपोर्ट बड़ी शिक्षाप्रद थी। उस का एकतरफ़ा होना तो लाज़िमी था, परंतु उस में ऐसा मसाला काफ़ी था जिस से वे लोग जिन्हों ने पहले ही अपना मत निश्चित नहीं कर लिया था, निष्पक्ष मत स्थिर कर सकें। रिपोर्ट में यह स्वीकार किया गया था कि "जहां तक विद्यार्थियों को विद्यालयों से हटा लेने के प्रयत्न का सवाल है, इस में बहुत थोड़ी सफलता हुई है" और जिन विद्यार्थियों ने सरकारी विद्यालयों को छोड़ दिया था उन में से अधिकांश को फिर उन्हीं में लौट जाना पड़ा था। इस से रिपोर्ट में आगे चल कर कही गई इस बात का समर्थन नहीं होता कि असहयोग आंदोलन ने "सरकारी संस्थाओं की

पाया।" कमेटी ने सिफ़ारिश की कि "लड़कों में सरकारी विद्यालयों को छोड़ देने का प्रोपेगेंडा न किया जाय।" परंतु १९३० के सत्याग्रह आंदोलन में फिर इस तरह का प्रोपेगेंडा किया गया, साथ ही पिकेटिंग भी जो कहीं-कहीं काफ़ी ज़ोर का तथा आपत्तिजनक था। परंतु इस बार के प्रयत्न में भी नासमझ विद्यार्थियों से उन के विद्यालय छुड़वाने में विशेष सफलता नहीं हुई। रिपोर्ट के अनुभवी लेखकों ने आंदोलन के प्रति नवयुवकों के उत्साह का उल्लेख करते हुए जिस विजय-भावना का प्रदर्शन किया था, उस पर मुसकराहट रोक सकना कठिन है। सन् १९३२ के दूसरे सत्याग्रह आंदोलन के समय इस प्रकार का प्रयत्न फिर नहीं किया गया। अदालतों के वहिष्कार के संबंध में रिपोर्ट का कहना था कि "यह स्वीकार करना पड़ेगा कि विद्यालयों वाले अंग की भांति कार्यक्रम का यह अंग भी असफल रहा।" कुल वकीलों की संख्या को देखते हुए, वकालत छोड़ देने-वाले वकीलों की संख्या "नगण्य" ही है और "उन में से भी कुछ लोगों ने निजी या अन्य कारणों से वकालत फिर शुरू कर दी है जिस से उन की संख्या और भी घट गई है।" कमेटी ने इस विषय में जो दलीलें दी थीं उन से उस सच्ची बात में अंतर नहीं पड़ता जो कि उस ने स्वीकार की थी और जिस का उल्लेख हो चुका है। जिस प्रकार सरकारी विद्यालयों के स्थान पर राष्ट्रीय संस्थाओं की स्थापना की बात थी, उसी प्रकार सरकारी अदालतों की जगह पंचायतों की स्थापना होने को थी। इस संबंध में भी कमेटी ने स्वीकार किया कि "मौजूदा अदालतों के बजाय कोई अन्य संतोषजनक व्यवस्था करने का प्रयत्न भी कुल मिला कर निस्संदेह असफल ही रहा।" जो पंचायतें क़ायम हुई थीं, उन में से कुछ ने कैसा अन्याय किया था, यह बात उस समय प्रायः सभी को ज्ञात थी और जिन लोगों की स्मरण-शक्ति बहुत क्षीण नहीं है वे उसे आज भी याद कर सकते हैं। एक और विषय जिस के संबंध में कमेटी ने असफलता स्वीकार की थी, खद्दर का था। कमेटी का कहना था कि "वास्तव में अब तो

निश्चयपूर्वक यह कह सकना असंभव हो गया है कि कोई कपड़ा शुद्ध खद्दर है या नहीं।" और "सारे देश में जो खद्दर-भंडार खुल गए हैं उन में केवल शुद्ध खद्दर का ही व्यवसाय करनेवाले थोड़े से ही हैं।" कमेटी के ही शब्दों में "किसी ज़िले या तहसील की बाबत यह नहीं कहा जा सकता कि उस के अधिकांश निवासियों ने पूर्णतः स्वदेशी वस्त्र ग्रहण कर लिया है या यह कि वे हाथ से कता और हाथ से बुना वस्त्र ही धारण करते हैं या यह कि वे असहयोग की दूसरी बातों में विश्वास करते हैं अथवा उन पर अमल करते हैं।" असहयोग के कार्यक्रम का एक अंग शराब की दूकानों पर पिकेटिंग भी था जिस के कारण काफ़ी कटुता पैदा हुई और यत्र-तत्र उपद्रव भी हुए। परंतु क्या कांग्रेस की दृष्टि से इस में सफलता मिली? कमेटी का जवाब इस प्रकार था—"तात्कालिक प्रभाव तो यह हुआ कि शराब की खपत में उल्लेखनीय कमी हुई, परंतु धरना देनेवालों के हटा लिए जाने के बाद शराबखोरी का फिर पहले जैसा ही ज़ोर हो गया।" यह बात सभी जानते हैं कि सरकार ने ज़ाब्ता फ़ौजदारी की दफ़ा १४४ का बहुत अधिक प्रयोग किया और ऐसी बातों के लिए उपयोग किया जिन के लिए असल में वह थी नहीं। परंतु इस के साथ ही कमेटी का यह वाक्य भी महत्वशून्य नहीं है कि "यह बात नहीं है कि दफ़ा १४४ के अनुसार निकाली गई सभी आज्ञाएं कानून की दृष्टि से नाजायज़ हैं, अगर ऐसा होता तो दफ़ा १४४ एक बेकार की दफ़ा होती लेकिन है नहीं।"

कौंसिलों का बहिष्कार

सन् १९२० के पिछले भाग में कांग्रेस के असहयोग-आंदोलन में कौंसिलों के बहिष्कार का बड़ा महत्व था। [illegible] हो [illegible] लोग [illegible] होगी। [illegible] कौंसिलों [illegible] [illegible] थी। [illegible] कमेटी के [illegible] [illegible] हुआ कि [illegible]

और आधे दूसरे पर। डा० अनसारी[1] (जिन्हों ने पिछले वर्ष से अपना मत बदल लिया है), मि० कस्तूरीरंग ऐयंगार और श्री राजगोपालाचार्य कौंसिलों के वहिष्कार को जारी रखने के पक्ष में थे तथा हकीम अजमल ख़ां, पंडित मोतीलाल नेहरू और श्री विट्ठलभाई पटेल का मत इस के विरुद्ध था। हकीम साहब आदि तीन सज्जनों का कहना था कि श्री गांधी का मतलब वहिष्कार से यह था कि "वोटर लोग चुनाव में भाग ही न लें; उन की आशा यह थी कि कौंसिलें ख़ाली पड़ी रह जायँगी।" ऐसा मालूम होता है कि कौंसिलों के वहिष्कार की बात स्वीकार हो जाने का कारण श्री गांधी का यह आश्वासन भी था कि "बारह महीने के अंदर स्वराज्य मिल जायगा।" इसलिए इन सज्जनों का कहना था कि "अब स्थिति बदल गई है। समय बदल गया है। संघर्ष का काल अनिश्चित रूप से बढ़ गया है।" ऐसी हालत में उन की राय थी कि—

लोगों के दैनिक जीवन से संबंध रखनेवाले क़ायदे-क़ानून कौंसिलों से बन रहे हैं। नए-नए टैक्स लगाए जा रहे हैं और लगाए जायँगे। और यह सब जनता के प्रतिनिधि कहलानेवालों की सहायता से तथा उन के नाम पर हो रहा है। और राज़ी से या ग़ैर-राज़ी से लोगों को यह सब सहन करना ही पड़ेगा। ऐसी हालत में यह विचारणीय प्रश्न है कि जनता पर कांग्रेस का आधिपत्य किस हद तक क़ायम रह सकेगा।

माना कि कांग्रेस ने कौंसिलों का वहिष्कार इसी रूप में क़ायम रखा और अब की बार पहले की अपेक्षा अधिक वोटरों ने चुनाव में भाग लिया, तो फिर हमारा जनता के प्रतिनिधि होने का दावा खतम हो जायगा। हमारा विश्वास है कि इस वहिष्कार की नीति में अब आकर्षण नहीं रह गया है और इस बात की काफ़ी संभावना है कि आगामी चुनाव में पहले की बनिस्बत अधिक वोटर भाग लेंगे। ऐसी हालत में हमारी पिछले

---

[1] डा० अनसारी अब इस लोक में नहीं रहे।

चुनाव की सफलता भूतकाल की बात हो जायगी और हमारे सारे आंदोलन को धक्का लग जायगा।

इसलिए ये तीनों सज्जन इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि—

अगर हम तात्कालिक आवश्यकता के प्रति अपनी आँखें न खोलेंगे तो भारत की विशाल जनता के एक अत्यंत छोटे अंश को भी खद्दर पहना सकने के पूर्व, राष्ट्रीय विद्यालयों की मांग के एक क्षुद्रांश की भी पूर्ति कर सकने के पूर्व, अस्पृश्यता को दूर करने के प्रयत्न में जरा-सी भी सफलता प्राप्त कर सकने के पूर्व, सांप्रदायिक एकता स्थापित करने के मार्ग की घोर कठिनाई से मुक्ति पा सकने के पूर्व ही हमारी पराजय हो जायगी—यही हमारी चेतावनी है। सिद्धांत अपने स्थान पर बहुत अच्छी वस्तु हैं, लेकिन अगर हम उन्हीं के पीछे बुरी तरह पड़े रहेंगे, तो वे हमें बहुत आगे न पहुँचा सकेंगे। अगर हम इन कौंसिलों को तोड़ दें तो हम से वह काम निकल आएगा जो विदेशों में करोड़ों रुपया खर्च कर के प्रोपेगेंडा करने से भी न निकल सकेगा। अगर हम सुधारों को नष्ट कर दें तो इस एक ही बात से हम उस विश्वव्यापी भ्रमजाल को नष्ट कर देंगे जो हमारे विरोधियों ने करोड़ों रुपया खर्च कर के रचा है।

कौंसिल-प्रवेश के इन पक्षपातियों की एक दलील यह भी थी कि यह "सत्याग्रह जैसा ही एक व्यवहार्य तथा योद्धोचित कार्य होगा।" सत्याग्रह जैसा ही! वाहरी आत्मवंचना !!

वर्तन।" इस में उन बहुसंख्यक परिवर्तनों का तारीख़वार ब्यौरा था जो सन् १६१६ और १६२२ के बीच कांग्रेस के कार्यक्रम में किए गए थे।

दूसरी ओर डा० अनसारी आदि तीन सज्जनों का कहना था कि "कौंसिलों की सीटों का बटवारा वर्गों, संप्रदायों तथा विशेष हितों के आधार पर इस तरह किया गया है कि उन के कार्य को रोक देने के लिए जितने बहुमत की आवश्यकता पड़ेगी, उतनी सीटों पर अधिकार कर सकना असंभव ही होगा।" उन का यह भी कहना था कि—

जब सन् १६२० में इस प्रकार के प्रस्ताव पर विचार किया गया था, उस समय महात्मा गांधी ने उस की इस बिना पर निंदा की थी कि किसी संस्था का अंत करने के लिए उस में प्रवेश करना भलमनसाहत अथवा ईमानदारी की नीति नहीं है। साथ ही, कौंसिल में प्रवेश करते ही प्रत्येक सदस्य को राजभक्ति की शपथ लेनी पड़ती है जिस में यह भी सम्मिलित है कि वह अपने कर्तव्य का वफ़ादारी के साथ पालन करेगा। किसी सच्चे आदमी के लिए यह संभव नहीं है कि वह कौंसिल को तोड़ने के उद्देश्य से चुनाव में खड़ा हो और फिर इस प्रकार की शपथ ले कर उस के अंदर जाय। बाधा डालने के विचार से भले-बुरे सब कामों का विरोध करना स्पष्टतः शपथ के विरुद्ध आचरण करना होगा और असहयोग आंदोलन के मूलभूत सिद्धांतों में विश्वास रखनेवाले किसी भी व्यक्ति को ऐसा करना बुरा लगेगा।

जिस आदमी की राय में असहयोग आंदोलन का सारा कार्यक्रम ही भ्रममूलक रहा हो, उस के लिए परिवर्तनों का यह वर्णन दयनीय ही हो सकता है। कौंसिलों, अदालतों और विद्यालयों का बहिष्कार समाप्त हो जाने के बाद कांग्रेस के अंदर दो दल हो गए। एक दल जो कौंसिल-प्रवेश के पक्ष में था, स्वराज्य पार्टी कहलाता था और दूसरा अपरिवर्तन-वादी और उन दोनों के बीच घरेलू युद्ध प्रारंभ हो गया। इस युद्ध में श्री गांधी के दोनों मुख्य सहयोगी—मिस्टर सी० आर० दास और पंडित

मोतीलाल नेहरू स्वराज्य पार्टी के नेता हो गए। दूसरे दल में उन की टक्कर का कोई नेता नहीं था और महात्मा जी अभी जेल में थे। सन् १९२३ में दिल्ली में कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन हुआ जिस में कांग्रेसवादियों को कौंसिल-प्रवेश की अनुमति मिल गई। चुनाव में अधिकांश प्रांतों में कांग्रेसी उम्मीदवारों को बड़ी सफलता मिली। महात्मा गांधी के जेल से लौट आने के बाद अपरिवर्तनवादियों तथा स्वराजिस्टों के बीच एक बार फिर ज़ोर-आज़माई हुई जिस में स्वराजिस्टों की विजय रही। इस के बाद उन्हें महात्माजी की सहायता प्राप्त हो गई।

स्वराजिस्ट कौंसिलों में

चुनाव में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त होने पर भी स्वराज पार्टी का प्रायः किसी भी कौंसिल में बहुमत नहीं हुआ। परंतु अन्य दलों के सदस्यों के साथ बुद्धिमत्तापूर्वक सहयोग कर के उन्हों ने बंगाल तथा मध्य प्रांत में मंत्रिमंडलों की समाप्ति कर दी। अन्य कौंसिलों में अधिकांश अवसरों पर स्वराजिस्टों तथा अन्य राष्ट्रीयतावादी सदस्यों के बीच सहयोग संभव हो जाता था। कौंसिलों का कार्य इस बात का पक्का प्रमाण है कि विभिन्न दलों के राष्ट्रीयतावादी सदस्यों के बीच मतभेद की बातों की अपेक्षा उन बातों की संख्या बहुत अधिक है जिन में वे सहमत हैं। मुडीमैन जांच कमेटी भी इस बात को समझती थी। अपनी रिपोर्ट में उस ने लिखा था :

(भारत के विभिन्न राजनीतिक दलों में [illegible] भेदों की बात बहुत हुआ [illegible] शैली में ही संदेह रखते हैं [illegible] भेदों का ध्यान रखते हुए भी......हमारा विश्वास है कि [illegible] काफ़ी बच रहेगा जिस के सब दलों के लोग, [illegible] [illegible] हमें मालूम है कि [illegible] [illegible] तथा सरकार के [illegible]

हैं, लेकिन हमारा यह मतलब हरगिज़ नहीं है कि वे सब के सब एक से हैं। निस्संदेह उन में से बहुतों ने, चाहे सहयोग के ही मार्ग से क्यों न हो, अपनी शक्ति भर अच्छा काम करने की कोशिश की है। हमारा विचार है कि अगर दोनों ओर वाले चाहें तो जहां मतभेद अनिवार्य हो उन बातों को छोड़ कर अन्य बातों में सहयोगपूर्वक कार्य करने के लिए आधार मिल सकता है। और एक बार इस दिशा में श्रीगणेश हो जाने पर परिणाम बड़ा वांछनीय होगा।......चूंकि असहयोगी का अपने देशवासियों के साथ सहयोग करना परम कर्तव्य है, इसलिए हमारा विश्वास है कि हम ने जिन बातों की ओर इंगित मात्र किया है वे थोड़े ही समय में निश्चित प्रस्तावों का रूप धारण कर लेंगी।

अन्य राष्ट्रीयतावादियों की ओर कांग्रेस का रुख

यह खेद की बात है कि सार्वजनिक कर्तव्य की इस उचित भावना को कांग्रेसवालों ने प्रत्येक चुनाव के अवसर पर, जब कभी वे उस में शरीक हुए, पूरी तरह भुला दिया। जब कौंसिलों के कार्य से कांग्रेसी मेंबरों को इस बात का संतोषजनक अनुभव हो गया कि अन्य राष्ट्रीयतावादी सदस्यों के सहयोग से उन की शक्ति बढ़ी है, इतना ही नहीं बल्कि उन की सफलता बहुत कुछ इसी सहयोग की बदौलत संभव हुई है, तब भी जब कभी वे चुनाव के मैदान में उतरे, उन्हों ने ग़ैर-कांग्रेसवादियों का विरोध किया, यह नहीं सोचा कि उन में से किस-किस का चरित्र तथा सार्वजनिक सेवा का कार्य कैसा-कैसा रहा है। इस विषय को विस्तार देने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि हमारा इस विषय का सब से पिछला अनुभव अभी काफ़ी ताज़ा है। एक बार (सन् १६२४ में) ब्रिटिश पार्लमेंट में भी लिबरल तथा मज़दूर दलों ने इस नीति की परीक्षा की थी कि निर्वाचन-क्षेत्रों में तो युद्ध किया जाय और पार्लमेंट के अंदर सहयोग। वहां भी यह प्रयोग बुरी तरह असफल रहा। मेरे हृदय में यह विचार उठे बिना नहीं रहता कि, कुछ व्यक्तियों को छोड़ कर, कांग्रेसवालों

के मन में यह बात बैठ गई है कि वे औरों की भाँति साधारण मनुष्य नहीं हैं, जो लोग उन के शीघ्रतापूर्वक बदलते रहनेवाले सिद्धांतों को मानने के लिए तैयार नहीं होते, उन के प्रति उन में तिरस्कारपूर्ण असहन-शीलता का भाव उत्पन्न हो गया है, और अपने दल को देश से बड़ा मानने के लोभ का संवरण करने में वे सदा समर्थ नहीं हुए हैं।

पार्लामेंटरी सिद्धांत के विरुद्ध

कांग्रेसी उम्मीदवारों से चुनाव के समय इस प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर कराए गए कि वे सदा कांग्रेस के अधिकारियों से प्राप्त होनेवाली आज्ञाओं के अनुसार कार्य करेंगे। पार्ला-मेंटरी शासन-प्रणाली का मूलभूत सिद्धांत यह है कि निर्वाचित सदस्य अपने कार्यों के लिए निर्वाचकों (वोटरों) के प्रति ज़िम्मेदार हैं, न कि किसी अन्य अधिकारी के प्रति। मि० स्नोडन ने इस तरह की कार्यवाही को पार्लामेंटरी प्रथा के विरुद्ध कहा है। सन् १९२४ में इंगलैंड के मज़दूर दल ने भी, जिस का प्रथम बार मंत्रिमंडल बना था, इस ढंग से काम करना चाहा था। उसे अपने मंत्रिमंडल से यह बात मनवा लेने में तो आंशिक सफलता प्राप्त हो गई, परंतु परिणाम यह हुआ कि पद-ग्रहण के बाद इस नीति के कारण ही मंत्रिमंडल को

कांग्रेसी सदस्यों का बराबर 'वॉक-आउट' करना और फिर 'वॉक-इन' का लगातार जारी रहा। संयुक्त प्रांत के एक अर्थ-सदस्य ने उन्हें "भ्रमणशील देशभक्त" कहा था और सर तेज बहादुर सप्रू ने उन के इन नाटकीय प्रदर्शनों को "देशभक्ति का आवागमन" कहा था।

सन् १९२६ के चुनाव में वे फिर खड़े हुए, परंतु इस बार उन में से कम से कम कुछ को इस बात का ज़रूर पता चल गया कि उन की नीति का आकर्षण फीका पड़ चला है। वोटर लोग इस 'वॉक-आउट' और 'वाक-इन' की नीति से असमंजस में पड़ गए थे। उन्हें इस बात का निश्चय नहीं था कि कांग्रेसी मेंबर अपने स्थानों पर डटे रह कर अपने कर्तव्य का पालन करेंगे या नहीं, और वे यह भी देख रहे थे कि कौंसिलें नष्ट-भ्रष्ट हो जाने के बजाय मज़े से चली जा रही हैं और स्वयं कांग्रेसवादी भी उन में पहुँच सकने के लिए पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा में लगे हुए हैं। १९२३ जैसी सफलता प्राप्त कर सकने के मार्ग में एक और भी कठिनाई थी। इन तीन वर्षों की घटनाओं के फल-स्वरूप हिंदुओं के हृदय में यह भावना उत्पन्न हो चली थी कि जहां मुसलिम हितों से संघर्ष हो वहां उन के हित कांग्रेसवालों के हाथों में सुरक्षित नहीं हैं। दिसंबर, १९२३ में मिस्टर सी० आर० दास ने बंगाल के मुसलमानों के साथ जो समझौता किया था उस से यह स्पष्ट हो गया था कि कांग्रेस के कुछ नेता मुसलमानों को ख़ुश करने के लिए कहां तक झुक सकते हैं। उस की बंगाल के हिंदुओं ने घोर निंदा की थी, और साधारणतः देश भर में भी हिंदुओं ने, जिन में कांग्रेसी हिंदू भी शामिल थे, उस का विरोध किया था। इस लिए हिंदू महासभा भी चुनाव के मैदान में उतर आई और पंडित मदन मोहन मालवीय तथा लाला लाजपतराय के नेतृत्व में उसे उल्लेखनीय सफलता प्राप्त हुई। इस बार की कौंसिलों में कांग्रेसी सदस्यों की संख्या पिछली बार की अपेक्षा कम थी। चुनाव के बाद कौंसिलों में फिर कांग्रेसियों, लिबरलों तथा अन्य राष्ट्रीयतावादियों के बीच प्रायः पूर्ण सहयोग रहा

यह बात मैं निजी जानकारी के आधार पर कह सकता हूं। हां, चुनाव के समय कभी सहयोग नहीं रहा। इस बार की कौंसिलों का कार्य-काल समाप्त होने के पूर्व ही उन के मेंबरों को उन से बाहर चले आने के लिए कह दिया गया और बाद को उन से इस्तीफ़ा भी दिला दिया गया। पिछले वर्ष (सन् १९३६ में) वे केंद्रीय एसेंबली में फिर चले गए हैं और अगले चुनाव में प्रांतीय व्यवस्थापिका सभाओं में भी चले जायँगे।[1] कौंसिलों के बहिष्कार की नीति की बुद्धिमत्ता पर इस बात से मनोरंजक प्रकाश पड़ता है कि चंद महीने पहले स्वयं महात्मा गांधी को यह घोषणा करनी पड़ी कि कांग्रेस में पार्लामेंटरी मनोवृत्ति स्थायी रूप से आ गई है और उन्हें स्वयं कौंसिल में पुनः प्रवेश की नीति का समर्थन करना पड़ा है, यद्यपि उन के कुछ सहयोगी ऐसा नहीं कर सके।

अकाली आंदोलन

सन् १९२१-२४ में अकाली सिक्खों के उदासी सिक्खों के विरुद्ध चलाए गए आंदोलन के फल-स्वरूप पंजाब में भारी हलचल रही। इस आंदोलन का ढंग कांग्रेस के सत्याग्रह आंदोलन जैसा था और सरकार ने भी उस का दमन के परिचित अस्त्र से सामना किया। अकालियों ने निस्संदेह क़ानून भंग किया था, परंतु इस में भी संदेह नहीं कि सरकार ने उस का दमन करने में आवश्यकता से अधिक कड़ाई से काम लिया। सर एडवर्ड मैक-लैगन के दृढ़ताहीन शासन में यह उत्पात जारी रहा। परंतु सन् १९२४ में उन के स्थान पर कुशाग्र बुद्धि वाले सर मालकम (अब लॉर्ड) हेली आए और उन्हों ने शीघ्र ही झगड़े को हल करने का तरीका ढूंढ निकाला, दमन के मार्ग से नहीं बल्कि समझौते के आधार पर। कांग्रेस ने अथवा कांग्रेसवादियों ने अकालियों का पक्ष समर्थन किया। इस का कारण यह

[1] यह चुनाव हो चुका। कांग्रेसवाले प्रांतीय कौंसिलों में पहुंच गए और अधिकांश प्रांतों में उन के मंत्रिमंडल भी बन गए, जिन्हों ने अब इस्तीफ़े दे दिए हैं।

था कि अकालियों का पक्ष न्यायपूर्ण था या यह कि वे सरकार से लड़ रहे थे, यह सोच सकना कठिन नहीं है।

सत्याग्रह

संगठित सत्याग्रह सन् १९२० में और फिर सन् १९३२ में शुरू किया गया। परिणाम क्या हुआ, यह कहना बेकार होगा। इस राजनीतिक अस्त्र के सब से बड़े ज्ञाता, महात्मा गांधी, पिछले वर्ष सार्वजनिक रूप से यह घोषणा कर चुके हैं कि सारे देश भर में सत्याग्रह करने की योग्यता तथा क्षमता केवल उन्हीं में है। अगर इस बात का पता हज़ारों लोगों के जेल जाने तथा राजनीतिक परिस्थिति में इतनी गड़बड़ मचने के बाद लगने के बजाय पहले ही लग गया होता, तो कैसी अच्छी बात होती! अस्तु, निष्क्रिय प्रतिरोध, सत्याग्रह, असहयोग तथा बहिष्कार, इन सब का अनुभव कर लेने के बाद जो अंतिम निष्कर्ष निकला वह यह है कि कांग्रेसवादी अपने लिए कौंसिलों में अधिक से अधिक सीटों पर अधिकार रखने के लिए चिंतित हैं। उन के तथा लिबरलों के बीच अंतर केवल यही है कि जिस बात को उन्हों ने बार-बार के कटु अनुभव के बाद जाना है, उसे लिबरलों ने पहले ही समझ लिया था। लॉर्ड रोज़बरी की परिभाषा के अनुसार समझदारी की दूरदर्शिता ही राजनीतिक बुद्धिमत्ता है। भारतीय राजनीतिक दलों के संबंध में मैं इस विषय में कुछ और कहना नहीं चाहता।

कांग्रेस तथा सरकारी पद

इस समय कांग्रेसवालों को इस प्रश्न का निर्णय करने में बड़ी कठिनाई हो रही है कि चुनावों के फल-स्वरूप जिन प्रांतों की व्यवस्थापिका सभाओं में उन का बहुमत हो जाय, वहां उन्हें मंत्रिमंडलों का निर्माण करना चाहिए अथवा नहीं। मेरी हार्दिक अभिलाषा है कि उन का निर्णय मंत्रिमंडल बनाने के पक्ष में हो।[1] यह बिलकुल निश्चय है कि कौंसिलों को नष्ट-भ्रष्ट कर

---

[1] और ऐसा ही हुआ भी।

सकने की आशा व्यर्थ ही प्रमाणित होगी। कौंसिलों की रचना इस बात को असंभव कर देगी। कोई भी व्यक्ति या दल ज़्यादा से ज़्यादा जो कुछ कर सकने का प्रयत्न कर सकता है, वह केवल यह है कि एक तो जनता को अधिक से अधिक लाभ पहुँचाया जाय और दूसरे इस असंतोषजनक विधान में, जो हमारे सर ज़बर्दस्ती लादा जा रहा है, यथेष्ट सुधार हो जायँ ताकि स्वराज्य का मार्ग प्रशस्त हो जाय।

भारत-सरकार तथा केंद्रीय एसेंबली ने सन् १९२२ में प्रेस ऐक्ट तथा कुछ अन्य दमनकारी क़ानूनों को रद्द कर के अच्छा काम किया। इस का श्रेय मुख्यतः सर तेज बहादुर सप्रू को है जो उस समय क़ानून-सदस्य थे और उस कमेटी के अध्यक्ष भी थे जिस ने इस विषय की जांच की थी।

नरेश-संरक्षण ऐक्ट

दुर्भाग्य से प्रेस ऐक्ट के रद्द होने के बाद शीघ्र ही नरेश-संरक्षण ऐक्ट पास हो गया और इस बीच उन के संरक्षण के लिए एक ऐक्ट और भी पास हो चुका है। "संरक्षण" किस का और किस से? अधिकांश देशी राज्यों में जनता को प्रारंभिक राजनीतिक अधिकार भी नहीं दिए गए हैं। उन में न तो सार्वजनिक सभाएं करने का अधिकार है, न समाचारपत्रों की स्वतंत्रता है, न प्रतिनिधि संस्थाएं हैं और न स्वतंत्र न्यायालय हैं। देशी राज्य प्रजा-परिषद् को अपने अधिवेशन ब्रिटिश भारत में करने पड़ते हैं। देशी राज्यों की प्रजा को अपनी शिकायतों का प्रकटीकरण करने के लिए मुख्यतः ब्रिटिश भारत के समाचारपत्रों की शरण लेनी पड़ती है। अधिकांश नरेशों ने अपनी राजनीतिक मनोवृत्ति में परिवर्तन हो जाने का कोई प्रमाण नहीं दिया है। जब देखो तब वे इसी बात पर हठ करते मालूम देते हैं कि सारी शासन-शक्ति अनियंत्रित रूप में उन्हीं के हाथों में बनी रहे। फिर भी भारत सरकार ने नरेशों को यह समझाने के बजाय कि वे अपनी प्रजा को कुछ थोड़े से राजनीतिक अधिकार प्रदान कर दें, दो-दो

बार उन को ब्रिटिश भारत के समाचारपत्रों की समालोचना से 'संरक्षण' प्रदान कर के उन की सहायता की है।

केनिया

केनिया में वहां बसे हुए भारतीयों के विरुद्ध नई नीति जारी किए जाने के फल-स्वरूप १९२३ में भारत में बड़ी नाराज़ी फैली। यह नीति प्रवासी भारतवासियों के प्रति इतनी अन्यायपूर्ण थी कि महामान्य श्रीनिवास शास्त्री जैसे सज्जन को यह कहना पड़ा कि भारत को ब्रिटिश साम्राज्य से सबंध-विच्छेद करने की बात सोचनी होगी और यह मत प्रकट करना पड़ा कि भारत ब्रिटिश साम्राज्य प्रदर्शिनी का बहिष्कार कर दे। उसी वर्ष लंदन में साम्राज्य परिषद् का जो अधिवेशन हुआ उस में केनिया तथा दक्षिणी अफ्रीका के भारतीयों की स्थिति के संबंध में सर तेज बहादुर सप्रू ने उल्लेखनीय कार्य किया।

सांप्रदायिक कलह

सन् १९२४ में देश के विभिन्न भागों में, विशेष कर दिल्ली तथा संयुक्त प्रांत में, अनेक रक्तरंजित सांप्रदायिक दंगे हुए। असहयोग आंदोलन के दिनों में हिंदू-मुसलिम ऐक्य के संबंध में जो कुछ कहा गया था उस सब के बाद इन दंगों के होने से महात्मा गांधी को इतना दुःख हुआ कि उन्हों ने चंद दिन के लिए अनशन करने का निश्चय किया। इस के फल-स्वरूप मौ० मुहम्मद अली ने जो उस वर्ष कांग्रेस के अध्यक्ष थे, स्वामी श्रद्धानंद के सहयोग से दिल्ली में ऐक्य सम्मेलन की आयोजना की। सम्मेलन में उपस्थिति अच्छी रही और वाद-विवाद भी अच्छा रहा। दोनों ओर वालों ने यथेष्ट सद्भावना का परिचय दिया। कलकत्ता के लाट पादरी स्वयं पधारे और उन्हों ने सम्मेलन के प्रति शुभकामना प्रकट की। परंतु फल कुछ न निकला। सम्मेलन में कांग्रेस, लिबरल पार्टी, मुसलिम लीग और हिंदू महासभा सभी के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। इस के कुछ ही समय बाद बंगाल में आतंकवाद का दमन करने के लिए एक कड़ा ऑर्डीनेंस जारी हुआ।

और बहुत से व्यक्ति, जिन में श्री सुभाषचंद्र बोस भी थे, नजरबन्द कर दिए गए। इस अवसर पर बंबई में फिर एक सर्वदल सम्मेलन हुआ। एक कमेटी, जिस के महात्मा गांधी अध्यक्ष थे और श्री मोतीलाल नेहरू मंत्री, इस बात पर विचार करने के लिए नियुक्त की गई कि विभिन्न संप्रदायों के बीच सद्भावना तथा विभिन्न राजनीतिक दलों के बीच एकता किस प्रकार स्थापित हो सकती है। कमेटी ने पहले हिंदू-मुसलिम प्रश्न को उठाया और उसी पर विचार करते-करते उस की समाप्ति हो गई। पूरे सप्ताह भर तक विवाद तथा विचार-विनिमय होता रहा, परंतु परिणाम फिर भी कुछ न निकला। मैं भी इस कमेटी में उपस्थित था और वहां मैं ने प्रथम बार यह अनुभव किया कि प्रमुख कांग्रेसवादियों में महात्मा गांधी, श्री सी० आर० दास तथा पंडित मोतीलाल नेहरू के विचारों के विरुद्ध एक विद्रोह की भावना का उदय हो गया है जिसे वे प्रकट न होने देना चाहते थे। सांप्रदायिक तनातनी में कोई कमी नहीं हुई। सन् १९२६ का कलकत्ता का दंगा, ढाका के दंगे, बंबई के दंगे और संयुक्त प्रांत के बार-बार के दंगे जिन में कानपुर का १९३१ का भयंकर दंगा सब से अधिक भयानक था, इन सब ने मानो गला फाड़-फाड़ कर इस बात की घोषणा की कि देश में हिंदू-मुसलिम ऐक्य नहीं है। संयुक्त प्रांत में तो एक गवर्नर ने अपने विदाई के भाषण में मानो गर्वपूर्वक यह घोषणा की थी कि अपने शासन-काल में उन्हें कम से कम ८२ सांप्रदायिक दंगों का दमन करना पड़ा था।

हिंदू महासभा

हिंदू महासभा का अस्तित्व तो वर्षों पहले से था, परंतु उसे देश के सार्वजनिक जीवन में कोई महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं हुआ था। इस सांप्रदायिक तनातनी के फल-स्वरूप उस की क्रियाशीलता बढ़ गई। कुछ हिंदू नेता भी उस में सम्मिलित हो गए, परंतु उस की नवीन शक्ति के मूल में मुख्यतः हिंदुओं में फैली हुई यह भावना थी कि उन के साथ न्याय नहीं हो रहा है। चाहे उन

विचार ठीक हो और चाहे ग़लत, उन की यह भावना हो गई है कि सरकार की नीति तथा उस के कर्मचारियों के रुख़ में कुछ ऐसी बात है जो हिंदू हितों की अभिवृद्धि में सहायक नहीं हो सकती। हिंदुओं पर संप्रदायवादी होने का दोष लगाया जाता है, और ऐसे आलोचकों का—केवल ग़ैर-हिंदुओं में ही नहीं—अभाव नहीं है जिन की दृष्टि में हिंदू महासभा का अस्तित्व ही एक अपराध है। यह एक विचित्र बात है कि ये सज्जन मुसलिम लीग तथा मुसलमानों की अन्य संस्थाओं की बाबत इसी प्रकार का विचार नहीं रखते। सन् १९१६ में जब कांग्रेस कमेटी तथा लीग की कौंसिल के बीच वह वार्तालाप चल रहा था जिस के फल-स्वरूप लखनऊवाला कांग्रेस-लीग समझौता हुआ था, उस समय स्वयं कांग्रेस ने ही महासभा को स्वीकार करने तथा उस के प्रतिनिधियों की भी बात सुनने से इनकार कर दिया था। पिछले वर्षों में हिंदू नेताओं में, जो सब के सब राष्ट्रीयतावादी थे, कई ऐसे थे जो हिंदू सभाओं की स्थापना के पक्ष में थे और उन के स्थापित होने पर उन में सम्मिलित हुए थे। इन में पंडित बिशननरायन दर, बाबू गंगाप्रसाद वर्मा तथा सर तेजबहादुर सप्रू थे। उन में से कुछ तो अब इस लोक में नहीं रहे और कुछ ने अपने विचार बदल लिए हैं। इसी प्रकार कुछ लोग पहले तो हिंदू-संगठन के पक्ष में नहीं थे, परंतु बाद को अपने विचार बदल कर उन में शामिल हो गए। परंतु पंजाब में तो, जहां सांप्रदायिक प्रश्न सदा एक मुख्य प्रश्न रहा है, प्रायः सभी हिंदू नेता हिंदू सभा के सदस्य रहे हैं और उन में ऐसे-ऐसे आदमी थे जैसे स्वामी श्रद्धानंद, सर प्रतुल चटर्जी, रायबहादुर काली प्रसन्न राय, रायबहादुर लाल चंद, लाला लाजपत राय और सर शादीलाल। इस प्रकार की विचारधारा तथा कार्यशैली में पंजाब के बाद बंगाल का नंबर है। एक पंजाबी नेता (स्वर्गीय राय बहादुर लाल चंद) ने तो सन् १९०८ में यहां तक कह डाला था कि हिंदुओं की ऐक्य संबंधी इच्छा घटती जा रही है। स्वामी श्रद्धानंद का मत था कि "हिंदू-मुसलिम ऐक्य

स्वराज्य का परिणाम हो सकता है, उस का कारण नहीं।" परंतु पंजाब के बाहर एक समय यह विचार फैला हुआ था कि कांग्रेस तो है ही, हिंदुओं के संगठन की कोई आवश्यकता नहीं है। आज की कांग्रेस का हिंदू-मुसलिम प्रश्नों के संबंध में, प्रधान मंत्री के सांप्रदायिक निर्णय के संबंध में, क्या दृष्टिकोण है, यह बात इतनी ताज़ी है कि उस का उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है। प्रश्न यह है कि जब हिंदू लोग देश की बात सोचने में और उस के लिए स्वराज्य-प्राप्ति के प्रयत्न में लगे हुए हैं, उस समय उन का अपनी जाति की आवश्यकताओं की बात सोचना भी उचित हो सकता है अथवा नहीं। यह स्मरण रहे कि मुसलमानों की सांप्रदायिक संस्थाएं पूर्णतः सजीव तथा शक्तिशाली हैं। सांप्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली का अस्तित्व और भी अधिक महत्वपूर्ण बात है। कौंसिलों में संप्रदायवादी सदस्यों की उपस्थिति के फल-स्वरूप सांप्रदायिक प्रश्नों संबंधी वाद-विवाद का रुख़ कैसा हो जाता है, यह किसी से छिपा नहीं है। नए विधान की रचना से लोगों को यह आशंका होना अस्वाभाविक नहीं है कि निकट भविष्य में देश में सांप्रदायिक ऐक्य की स्थापना नहीं होगी। मैं अपने को राष्ट्रवादिता में किसी से कम नहीं समझता, परंतु मैं न तो यह भूल ही सकता हूं और न भूलना चाहता ही हूं कि मैं हिंदू हूं और एक सार्वजनिक कार्यकर्ता की हैसियत से मेरा यह कर्तव्य है कि हिंदुओं को भारतीय राष्ट्र का एक आवश्यक अंग समझ कर उन के हितों की रक्षार्थ प्रयत्नशील रहूं। मेरा विश्वास है कि मेरे सहधर्मियों की साधारणतः यही भावना है। मि० बिरैल का यह कथन अनुचित नहीं है कि बहुसंख्यक समुदाय का अल्पसंख्यक समुदाय पर अत्याचार करना तो बुरा है ही, लेकिन बहुसंख्यक समुदाय का अल्पसंख्यक समुदाय को अपने ऊपर अत्याचार करने देना तो और भी बुरी बात है। सब बातों पर विचार करते हुए मुझे इस बात में संदेह की गुंजाइश नहीं दिखाई देती कि हिंदुओं की एक संस्था होनी चाहिए जो उन की सच्ची प्रतिनिधि हो और

शक्तिशाली हो, दूसरों पर ज़्यादती करने की मंशा से नहीं, सांप्रदायिक कट्टरता का प्रदर्शन करने के लिए नहीं, बल्कि केवल आत्म-रक्षा के अभि-प्राय से और पूर्णतः राष्ट्रीय भावना के अनुकूल कार्य करने के लिए। हां, इस बात का ध्यान रखना आवश्यक होगा कि वह कट्टरपंथियों के हाथ में न चली जाय। उन का अतिरंजित जोश हिंदू जाति के लिए हित-कारक नहीं होगा। उन की कट्टरता का ही एक परिणाम यह होता है कि मध्यमार्ग में विश्वास रखनेवाले लोग, जिन का सहयोग लाभजनक हो सकता है, हिंदू महासभा के कार्यों में भाग लेने में संकोच करते हैं।

हिंदुओं का अनैक्य

यह दुर्भाग्य का विषय है कि हिंदू जाति की आंतरिक अनैक्य की पुरानी आदत का आधुनिक आवश्यकताओं के दबाव से भी अंत नहीं हुआ है। मुसलमानों का जब यह ख़्याल हो जाता है कि उन के सांप्रदायिक हित ख़तरे में हैं तो, चाहे उन की यह आशंका ठीक हो और चाहे ग़लत, वे सब एक हो जाते हैं, परंतु हिंदुओं ने ऐसा कभी नहीं किया है। बड़े-से-बड़े मुसलमान ज़मींदार अपने छोटे-से-छोटे सहधर्मियों के साथ मिल कर एक हो जाते हैं और अपने सांप्रदायिक विषयों के संबंध में सरकार से फ़रियाद करने में नहीं हिचकते, परंतु हिंदू ज़मींदारों में से बहुत से अपने हिंदू भाइयों का साथ इस आशंका के कारण नहीं देते कि सरकार नाराज़ हो जायगी। मध्यम श्रेणी के हिंदुओं में से बहुतेरे अपनी राष्ट्रीयता की भावना के कारण अपने जाति-भाइयों का साथ नहीं देते। मेरे पास यह समझने के लिए यथेष्ट कारण हैं कि हिंदू सरकारी कर्मचारियों में से अधिकांश का ऐसा विचार है कि अगर वे अपने सहधर्मियों के साथ न्याय भी करेंगे, तो वे मुसलमानों के शत्रु कहे जाने लगेंगे और उन के अफ़सरों की उन पर वक्र-दृष्टि हो जायगी और इसलिए वे थोड़ा बहुत मुसलमानों का ही पक्ष-पात करते हैं। समाज-सुधार के समर्थकों तथा विरोधियों के मतभेदों से भी मिल कर कार्य करने की प्रवृत्ति में बाधा पड़ती है। हिंदू महासभा के

समाज सुधार संबंधी उन्नतिशील दृष्टिकोण से असंतुष्ट हो कर अधिक पुरातनताप्रिय लोगों ने अपना अलग संगठन कर लिया है। वे अपने को ही सनातनी कहते हैं मानो जिन रीति-रिवाजों से वे चिपके रहना चाहते हैं वे सनातन हैं ! जाति-व्यवस्था के विभिन्न पहलुओं पर विचार करना इस पुस्तक के विषय को देखते हुए अप्रासंगिक होगा, परंतु इतना कह देने में हरज नहीं है कि लौकिक विषयों से संबंध रखनेवाले सार्वजनिक मामलों में जाति की भावना का समावेश उचित अथवा क्षम्य हो सकना तो दूर रहा, हिंदू जाति के लिए बड़ा हानिकारक सिद्ध हो रहा है। यह एक मनोरंजक परंतु दुर्भाग्य की बात है कि इस अवांछनीय प्रवृत्ति का वे लोग भी परिचय देते हैं, जो अपने दैनिक जीवन में जाति-पांति के नियमों का खुले तौर पर परित्याग कर चुके हैं।

अब्राह्मण आंदोलन

मद्रास के अब्राह्मणों ने कुछ वर्षों से अपना संगठन इस आधार पर कर लिया है कि ब्राह्मणेतर जातियों को मिल कर कार्य करना चाहिए। प्रायः उन्हों ने ब्राह्मणों का विरोध करना ही अपना कर्तव्य समझा है। उन की देखा-देखी बंबई तथा मध्य प्रांत में भी इस प्रकार का संगठन हुआ है। मद्रास में उन का दल जस्टिस पार्टी कहलाता है। कहने को तो जस्टिस पार्टी वाले अब्राह्मणों के लिए न्याय प्राप्त करना चाहते हैं, परंतु वास्तव में उन्हों ने ब्राह्मणों के साथ घोर अन्याय करने में भी संकोच नहीं किया है। राजनीतिक क्षेत्र में यह ब्राह्मणों तथा अब्राह्मणों का विभाजन हिंदू-समाज की कमज़ोरी का एक और कारण है। और विचित्रता देखिए कि न्याय के ऐसे पुजारी होने पर भी जस्टिस पार्टी के अब्राह्मण अछूत जातियों के प्रति ब्राह्मणों की अपेक्षा न तो अधिक उदार हैं और न अधिक न्यायप्रिय। सन् १९१९ में पार्लीमेंटरी कमेटी के सम्मुख जस्टिस पार्टी के प्रतिनिधियों ने यह स्वीकार भी किया था कि अब्राह्मण आंदोलन ब्राह्मणेतर सवर्ण हिंदुओं तक ही सीमित है।

क्या मद्रास की सरकार अब्राह्मण आंदोलन के प्रति पक्षपात करने के विषय में निर्दोष कही जा सकती है? मेरा तो विचार है कि नहीं। सन् १९१९ की पार्लामेंटरी कमेटी संबंधी एक घटना से इस विषय पर मनोरंजक प्रकाश पड़ता है। सर एलेग्ज़ेंडर कार्ड्यू, जो उन दिनों मद्रास सरकार के बड़े प्रमुख व्यक्ति थे, कमेटी के सम्मुख बयान देते हुए इस बात का बड़े ज़ोरों से खंडन कर रहे थे कि मद्रास सरकार ने किसी भी समय किसी भी प्रकार से जस्टिस पार्टी के विकास में प्रोत्साहन प्रदान किया था। आख़िर लॉर्ड सिनहा ने उन के सम्मुख एक सरकारी प्रस्ताव रक्खा जिस पर "ए० जी० कार्ड्यू" के हस्ताक्षर थे और उन का ध्यान उस के एक वाक्य की ओर आकर्षित किया। सर एलेग्ज़ेंडर का मुँह छोटा सा रह गया और उन की बातों का सारा ज़ोर भी जाता रहा। उसी कमेटी के सम्मुख मि० मांटेगू की जिरह के जवाब में जस्टिस पार्टी के प्रतिनिधि सर के० वी० रैडी ने जो बयान दिए थे वे भी इस दृष्टि से विशेष मनोरंजक थे।

अस्पृश्यता

किसी मनुष्य को अस्पृश्य समझना धर्म की विडंबना ही कहा जा सकता है, लेकिन जो भी हो, लाखों-करोड़ों मनुष्यों को शताब्दियों से अस्पृश्य समझा गया है। और यह उपेक्षित वर्ग आज उस समाज से बदला ले रहा है जिस ने कि उस के साथ ऐसा दुर्व्यवहार किया है। शिक्षा-प्रचार तथा आर्थिक सुधार द्वारा अस्पृश्यता-निवारण तथा अछूतोद्धार की ओर सभी समाज-सुधारकों ने ध्यान दिया है, परंतु यह सच बात है कि इस आंदोलन में सजीवता महात्मा गांधी के महान प्रयत्न के ही फल-स्वरूप आई है। भारत के उन हितैषियों ने जो स्वराज्य की स्थापना को अंतिम समय तक टालते रहने के लिए उत्सुक रहे हैं, दलित जातियों के अस्तित्व से पूरा राजनीतिक लाभ उठाया है। मुसलमानों तथा ईसाइयों में भी दलित जातियां हैं—पहली बात तो संयुक्त प्रांतीय लैजिस्लेटिव कौंसिल में मुसलमान मंत्री द्वारा स्वीकार की

जा चुकी है[1]—परंतु राजनीतिक वाद-विवाद में उन का अस्तित्व सदा भुला दिया जाता है। इस बात का कुछ न कुछ महत्व अवश्य होगा कि हर दसवें वर्ष की मर्दुमशुमारी में दलित जातियां कहे जानेवाले मनुष्यों की संख्या तेज़ी से बढ़ती गई है। और यह स्मरण रहे कि वह एक अंग्रेज़ सज्जन ही थे, मि० (बाद को सर एडवर्ड) गेट जिन्हों ने सैंसस कमिश्नर की हैसियत से प्रथम बार यह आज्ञा निकाली थी कि मनुष्य-गणना में दलित जातियों को अन्य हिंदुओं से अलग दिखाया जाय। यहां मुझे इन जातियों के उन नेता के संबंध में कुछ नहीं कहना है जिन्हों ने अभी हाल में बड़े नाटकीय ढंग से यह घोषणा की थी कि वे हिंदू-धर्म का परित्याग कर के किसी अन्य धर्म के अनुयायी बन जायँगे। ऐसे लोगों की दृष्टि में धर्म का विश्वासों से नहीं, बल्कि सांसारिक सुख-सुविधाओं से संबंध है। जो हो, मुझे अपने विषय के प्रसंग में केवल यही कहना है कि अछूतों तथा दलित जातियों की यह महान समस्या हिंदू जाति की कमज़ोरी का एक भयानक कारण है।[2]

मज़दूर

मज़दूरों का संगठन तथा स्त्रियों की जाग्रति भी इधर की दो उल्लेखनीय प्रवृत्तियां हैं। प्रत्येक देशभक्त भारतीय इन दोनों ही का स्वागत करेगा। मज़दूरों का संगठन अभी शहरों अथवा कल-कारख़ानों तक ही सीमित है; खेतों में मज़दूरी करनेवाले लोगों के संगठन की और भी अधिक आवश्यकता है। कई सार्वजनिक कार्यकर्ताओं ने मज़दूरों के संगठन के लिए ऐसा अच्छा कार्य किया है कि उन की प्रशंसा करना आवश्यक है। इन में सब से अधिक उल्लेखनीय

---

[1]दूसरी बात भी अब संयुक्त प्रांत में ही एक अन्य मंत्री द्वारा स्वीकार कर ली गई है।

[2]इस संबंध में त्रावंकोर के महाराजा साहब की मंदिर-प्रवेश संबंधी आज्ञा का कृतज्ञतापूर्वक उल्लेख कर देना आवश्यक है।

कार्य है भारत-सेवक समिति, वंबई, के मिस्टर एन० एम० जोशी का। यह स्वीकार करना पड़ेगा कि भारत-सरकार का रुख़ सहानुभूति का रहा है और उस के कई सदस्यों ने मज़दूर आंदोलन के ज़िम्मेदार नेताओं को अपना सहयोग प्रदान किया है। भारत-सरकार के जिन कर्मचारियों ने मज़दूरों की भलाई के लिए अच्छा कार्य किया है, उन में मिस्टर ए० जी० क्लो का नाम सब से अधिक उल्लेखनीय है। हाउस ऑफ़ कॉमन्स के भूत-पूर्व अध्यक्ष मि० विटले की अध्यक्षता में जो मज़दूरों संबंधी कमीशन वैठा था, उस की प्रशंसा न करना भी अन्याय होगा।

महिला-आंदोलन

मैं अपने पाठकों से इस बात का अनुरोध करूंगा कि वे अखिल-भारतीय महिला-सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशनों की रिपोर्टों का अवलोकन करें। उन से मालूम हो जायगा कि सेवा-भाव से प्रेरित शिक्षित महिलाओं ने स्त्रियों की दशा सुधारने के लिए क्या-क्या कार्य किए हैं। उन्हों ने इतनी उन्नति कर ली है कि यदि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के समाज-सुधार के क्षेत्र के सब से बड़े कार्यकर्ता महादेव गोविंद रानाडे आज जीवित होते, तो उन का हृदय हर्ष से भर जाता। देश की वर्तमान परिस्थिति की अनेक निराशाप्रद तथा दुःखजनक बातों के बीच भारतीय महिलाओं का देशभक्तिपूर्ण कार्यकलाप भविष्य के लिए एक आशाप्रद लक्षण है। उन के कार्य की एक विशेष उत्साहवर्द्धक बात यह है कि दूसरों के कोशिश करने पर भी उन्हों ने प्रायः एक स्वर से सांप्रदायिक वाद-विवादों में पड़ने से इनकार कर दिया है।

अब मुझे घटनाओं के क्रमबद्ध वर्णन की ओर लौट जाना चाहिए।

मुडीमैन कमेटी

सन् १९२४ में, जब लॉर्ड ऑलीवियर भारत-मंत्री थे, भारत-सरकार ने तत्कालीन होम मेंबर सर एलेग्ज़ेंडर मुडीमैन की अध्यक्षता में एक सुधार कमेटी इसलिए नियुक्त की कि वह मांटेगू-चेम्सफ़ोर्ड सुधारों की प्रगति की जांच करे और इस बात पर विचार

करे कि सन् १९१९ के ऐक्ट में संशोधन किए बिना कौन-कौन नए सुधार जारी किए जा सकते हैं। कमेटी के सम्मुख जो बयानात आए वे शिक्षाप्रद थे। प्रांतीय सरकारों के जो मत कमेटी के सम्मुख उपस्थित हुए उन की पंक्ति-पंक्ति से यह प्रकट होता था कि नौकरशाही ने मि० मांटेगू के उदार उद्देश्यों को विफल कर देने के लिए कैसी-कैसी कोशिशें की थीं। गवर्नरों तथा उन के सरकारी सलाहकारों (एग्ज़ीक्यूटिव कौंसिलरों) ने अपने को मंत्रियों तथा लैजिस्लेटिव कौंसिलों के कार्यों का समीक्षक बना लिया और जहां-जहां उन्हों ने नौकरशाही के मत का अनुसरण नहीं किया था, उन-उन बातों के संबंध में उन की प्रतिकूल आलोचना की। भूतपूर्व मंत्रियों ने अपने-अपने अनुभवों की जो राम-कहानी सुनाई, उस से कुछ और ही कथा मालूम देती थी। कमेटी ने कुछ बहुत ही साधारण सी सिफ़ारिशें कीं। उस के चार सदस्यों—सर शिवास्वामी ऐयर, सर तेज बहादुर सप्रू, मि० जिन्ना तथा तथा डा० परांजपे—ने अपनी अलग से अल्प-संख्यक रिपोर्ट लिखी। उन का निष्कर्ष यह था कि :—

जिन शासन विषयक अथवा राजनीतिक कठिनाइयों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया गया है, उन को संतोषजनक रूप से हल करने के लिए कोई अस्थायी आयोजना तैयार नहीं की जा सकती।... हमारी समझ में असली प्रश्न यह नहीं है कि कोई दूसरी अस्थायी आयोजना तैयार हो सकती है अथवा नहीं, बल्कि यह है कि भारतीय विधान में संशोधन कर के उसे स्थायी रूप प्रदान कर दिया जाय और उस में इस बात की व्यवस्था रहे कि आगामी उन्नति के लिए फिर पार्लमेंट का द्वार न खटखटाना पड़े। तभी शासन-प्रणाली में स्थायित्व तथा जनता का हार्दिक सहयोग संभव हो सकेगा।

और उन्हों ने यह आग्रह किया कि समस्या को हल करने का शीघ्र ही वास्तविकतापूर्ण प्रयत्न होना चाहिए। सर मुहम्मद शफ़ी उस समय भारत-सरकार के क़ानून-सदस्य थे और कमेटी के मेंबर भी थे। उन्हों ने

बहुमतवाली रिपोर्ट पर हस्ताक्षर किए थे, परंतु कुछ ही सप्ताह बाद उन का कार्य-काल समाप्त हो गया और वे सरकारी पद के बंधनों से मुक्त हो गए। तब एक पत्र-प्रतिनिधि ने उन से भेंट की और सर मुहम्मद ने उस से कहा कि एक सरकारी मेंबर की हैसियत से मैं जांच कमेटी की निर्धारित सीमाओं से बाध्य था, परंतु अब एक ग़ैर-सरकारी व्यक्ति की हैसियत से मैं अल्पमतवाली रिपोर्ट से सहमत हूं। लेकिन सरकार ने ग़ैर-सरकारी मेंबरों की सिफ़ारिशों पर ध्यान देना तो दूर रहा, सरकारी सदस्यों की छोटी-मोटी सिफ़ारिशों को भी कार्य-रूप में परिणत नहीं किया।

इस समय के आस-पास जिन प्रश्नों पर घोर वाद-विवाद चला, उन में एक प्रश्न विनिमय-दर का भी था। प्रश्न यह था कि रुपए का मूल्य १६ पेंस हो अथवा १८ पेंस? भारतीय लोकमत १६ पेंस के पक्ष में था, एक स्वर से तो नहीं परंतु हां, भारी बहुमत से। सरकारी राय १८ पेंस के पक्ष में थी। लैजिस्लेटिव एसेंबली ने नाम मात्र के बहुमत से १८ पेंस के पक्ष में निर्णय दे दिया और उसे क़ानून का रूप दे दिया गया। इस प्रश्न संबंधी वाद-विवाद आज भी जीवित है। जो भारतीय इस प्रश्न पर मत प्रकट करने के अधिकारी हैं उन में से अधिकांश का यह विचार है कि १८ पेंस की विनिमय-दर भारतीय व्यापार तथा उद्योग-धंधों के लिए घातक है। आज उन का कहना है कि अनुभव ने उन के विचार को ठीक सिद्ध कर दिया है। उन का कहना है कि कृषिकारों की कर्ज़दारी पहले ही से एक गहन समस्या थी, १८ पेंस की दर ने उसे और भी जटिल बना दिया है। सन् १९३१ में ब्रिटेन ने स्वर्ण-मान का त्याग कर दिया। (यानी काग़ज़ी नोट के बदले सोने का सिक्का देने से इनकार कर दिया और इस के परिणाम-स्वरूप नोट भारी बट्टे पर चलने लगा।) परंतु अनुदार दल के नए भारत-मंत्री सर सैमुअल होर ने फ़ौरन मनमानी आज्ञा जारी कर के रुपए का काग़ज़ी पाउंड के साथ (१ पाउंड = १३ रु० २ आ० ४ पा०) वही

विनिमय-दर

संबंध स्थापित कर दिया, जो अब तक सोने के पाउंड के साथ था। तब से भारत से अभूतपूर्व स्वर्ण-निर्यात हुआ है। जिस समय अन्य देशों ने अपनी स्वर्ण-राशि को बाहर न जाने देने का प्रबल प्रयास किया है, उस समय भारत से विना किसी प्रतिबंध के सुवर्ण की धारा बही है और सरकार ने उस पर इस प्रकार संतोप प्रकट किया है मानो यह भारत के लिए बड़े सौभाग्य का विषय हो। सन् १८९३ से भारत की मुद्रा तथा विनिमय संबंधी नीति का नियंत्रण सदा भारत-मंत्री के द्वारा लंदन के व्यापारियों ने किया है। दादाभाई नौरोजी, रमेशचंद्र दत्त, दिनशा वाछा, जी० सुब्रह्मण्य ऐयर, गोपालकृष्ण गोखले तथा सर ददीबा दलाल जैसे भारतीय सज्जनों के प्रतिवाद का प्रायः कुछ भी परिणाम नहीं निकला है। और इसी वर्ष भारत के लिए जो नया विधान बना है, उस में भी इस बात का प्रबंध कर दिया गया है कि भविष्य में भी भारत की सरकार तथा व्यवस्थापिका सभा मुद्रा तथा विनिमय संबंधी नीति का वायसराय की मर्ज़ी के ख़िलाफ़ निर्णय न कर सकेंगी। पिछले ४२ वर्ष की नीति से भारत की कितनी भारी हानि हुई है, इस का एक यही उदाहरण यथेष्ट है कि सन् १९२० में रिवर्स कौंसिलों (एक प्रकार की विनिमय संबंधी सरकारी हुंडियों) की बिक्री से भारत की ऐसी भारी हानि हुई थी कि 'टाइम्स ऑफ़ इंडिया' ने भी उसे "संगठित लूट" कहा था।

सन् १९२६ के अंतिम भाग में एक लज्जास्पद दुर्घटना हो गई।

स्वामी श्रद्धानंद की हत्या

सम्माननीय स्वामी श्रद्धानंद की, उन्हीं के घर पर, उन से मिलने के लिए आए हुए एक मुसलमान ने हत्या कर डाली। इस हत्या का कारण था स्वामीजी का हिंदू-हितों का उत्साहपूर्ण पक्ष-समर्थन। स्वामी श्रद्धानंद जाति के एक भूषण थे। लाला मुंशीराम पहले वकालत करते थे और बाद को अपने सांसारिक कामों से छुट्टी ले कर तथा गुरुकुल कांगड़ी की, जो देश भर में अपने ढंग की एक ही शिक्षण-संस्था थी, स्थापना कर के देश के इतिहास

में अपना नाम लिखा गए। आर्य-समाज के प्रतिष्ठित नेता के रूप में वे महात्मा मुंशीराम के नाम से प्रख्यात थे। संन्यास-आश्रम में प्रवेश करने पर उन्हों ने श्रद्धानंद का नाम ग्रहण कर लिया था। स्वामीजी ने धार्मिक तथा सामाजिक सुधार और शिक्षा-प्रचार के द्वारा जीवन भर हिंदू-जाति के उत्थान के लिए परिश्रमपूर्ण प्रयत्न किया था। वे हृदय से राष्ट्रवादी थे और पंजाब में मार्शल लॉ के अत्याचारों को देख कर सक्रिय राजनीति में आ गए थे। सन् १९१९ की अमृतसर कांग्रेस में वे उस के स्वागताध्यक्ष थे। उन की हत्या से देश के एक छोर से दूसरे छोर तक हिंदू-जाति में भारी नाराज़ी फैली। उन की मृत्यु से भारत ने, और विशेष कर हिंदू जाति ने, एक महान-आत्मा देशभक्त खो दिया, जिस की जीवन-कथा और देश-सेवाएं जनता बहुत समय तक कृतज्ञतापूर्वक स्मरण रक्खेगी।

सैनिक नीति

इन वर्षों में इस बात के लिए बड़े प्रयत्न हुए कि ब्रिटेन की भारत संबंधी सैनिक नीति में उदारता आ जाय, जिस के परिणाम-स्वरूप अन्य बातों के अतिरिक्त भारत के अज़हद भारी सैनिक व्यय में कमी हो जाय। एक अंग्रेज़ पत्रकार मि० रॉबर्ट नाईट ने भारतीयों का योग्यता तथा दृढ़तापूर्वक पक्ष ग्रहण कर के उन की कृतज्ञता प्राप्त की थी। भारत के फ़ौजी ख़र्चे का बोझा कितना हिंदुस्तान पर पड़ना चाहिए और कितना विलायत पर, इस सवाल की बाबत उन्हों ने दो कसौटियां निर्धारित की थीं। एक तो यह कि आर्थिक भार सहन करने की उन में कितनी-कितनी शक्ति है और दूसरी यह कि भारतीय सेना से किस-किस का कितना-कितना काम निकलता है। परंतु हुआ यह है कि इंगलैंड ने भारत पर सदा यथासंभव अधिक से अधिक भार लादने की कोशिश की है और कभी-कभी तो इस प्रयत्न में लज्जा को भी तिलांजलि दे दी है। हैनरी फ़ॉसैट ने, जो भारत के बड़े मित्र थे, अपने समय में ब्रिटेन द्वारा भारत के प्रति होनेवाले एक आर्थिक अन्याय को अत्यंत क्षुद्रतापूर्ण या कमीनेपन का काम कहा था। सच तो

यह है कि ब्रिटेन तथा भारत के आर्थिक संबंध का सारा अध्याय इसी प्रकार की क्षुद्रताओं से भरा पड़ा है। समय-समय पर कमीशनों तथा कमेटियों की नियुक्ति हुई है, जिन का उद्देश्य ऊपर से तो भारत को संतोष प्रदान करना रहा है, परंतु जिन में से एक से भी उस के भार में कोई कमी नहीं हुई है। लॉर्ड मेयो से ले कर अनेक वायसरायों ने भारत के प्रति होनेवाले अन्याय का प्रतिवाद किया, परंतु उन का सारा प्रतिवाद व्यर्थ गया। इन में एक वायसराय लार्ड नॉर्थब्रुक थे, जिन्हों ने विलायत लौटने के बाद सन् १८८३ में पार्लीमेंट की लॉर्ड सभा में इस विषय पर वाद-विवाद छेड़ा। भारत-मंत्री ने यह स्वीकार किया कि भारत के साथ अन्याय हुआ है, परंतु साथ ही उन्हों ने कहा कि वे ब्रिटिश सरकार से फिर से बहस छेड़ना नहीं चाहते, क्योंकि पिछले अनुभव से उन्हें यह धारणा हो गई थी कि जब-जब यह प्रश्न छिड़ता है तभी-तभी भारत के सिर कुछ नया भार लद जाता है। साइमन कमीशन के आर्थिक सलाहकार सर वाल्टर लेटन ने आंकड़े दे कर यह सिद्ध किया था कि अन्य कोई राष्ट्र अपनी आमदनी का उतना बड़ा भाग फ़ौज पर ख़र्च नहीं करता जितना भारत। सर विलियम मेअर महायुद्ध के समय भारत के अर्थ-सदस्य थे। वे बड़ी असाधारण योग्यता के व्यक्ति थे और उन्हों ने भारत की बड़ी वफ़ादारी के साथ सेवा की थी। महायुद्ध की समाप्ति के एक वर्ष पूर्व उन्हों ने अपना यह मत लिपिबद्ध किया था कि महायुद्ध के पश्चात् भारत का सैनिक व्यय २५ करोड़ रु० वार्षिक से अधिक न होना चाहिए। लेकिन सब जानते हैं कि इस समय वह २५ करोड़ का लगभग दूना है और बीच में इस से भी अधिक रह चुका है। इस भारी सैनिक व्यय तथा भारत-सरकार के विलायती ख़र्चे का ही यह परिणाम है कि सरकार के पास न तो समाज-सेवा के कार्यों के लिए रुपया बचता है, न आर्थिक विकास के प्रयत्नों के लिए और न शिक्षा की उन्नति के लिए। दादाभाई नौरोजी अपने जीवन भर इस बात के विरुद्ध आंदोलन करते

रहे कि भारत का धन खिंच कर बाहर जा रहा है और ये दोनों भारी ख़र्चे उसी शोषण के अंग हैं। लॉर्ड सिनहा ने एक बार मुझ से कहा था कि अंग्रेज़ों की जानकारी मुझ से ज़्यादा किसी भारतीय को न होगी, उन के चरित्र की अनेक अच्छी बातों के लिए मेरे दिल में जितना प्रशंसा का भाव है उतना किसी और के दिल में न होगा, लेकिन जहां रुपए-पैसे का सवाल हो वहां उन का कदापि विश्वास न करना चाहिए। एक अंग्रेज़ ने ही अपने देशवालों के जातीय स्वभाव का वर्णन संक्षेप में इस प्रकार किया था "अंग्रेज़ पैसे का सदा ध्यान रखता है, अक्सर दिमाग़ से काम लेता है और कभी कभी सहृदयता का भी परिचय दे सकता है।"

भारत को विदेशी शासन से जो बहुत-सी हानियां हुई हैं, उन में सब से बड़ी ब्रिटेन की सैनिक नीति के कारण हुई है। एक शब्द में उसे अविश्वास की नीति कहा जा सकता है। सन् १९१७ तक तो भारतीयों को उच्च सैनिक अफ़सरों के पद मिल ही नहीं सकते थे। उस वर्ष कहने को तो उच्च पदों का द्वार उन के लिए खोल दिया गया, परंतु आज तक भी उच्च सैनिक पदों का भारतीयकरण चींटी की चाल से हो रहा है। इस चाल से भारतीय सेना का पूर्ण भारतीयकरण तीन सौ वर्षों में भी न हो सकेगा और फिर भी सरकार उस में कुछ भी तेज़ी लाने को तैयार नहीं है। स्कीन कमेटी नामक सरकारी कमेटी तक ने इस संबंध में कुछ उदार प्रस्ताव किए थे, परंतु उन पर कोई अमल नहीं किया गया। साइमन कमीशन ने इस रिपोर्ट का ज़िक्र करते हुए कहा था कि उस के आधे से अधिक सदस्य भारतीय सज्जन थे। शायद इसी लिए उस की सिफ़ारिशें नहीं मानी गईं! प्रथम गोलमेज़ कान्फ़रेंस की सैनिक सब-कमेटी की सिफ़ारिशें उदारतापूर्ण नहीं थीं, परंतु उस के असंतोषजनक प्रस्तावों पर भी पूरी तरह अमल नहीं किया गया। कुछ महीने बाद भारत के तत्कालीन प्रधान सेनापति सर फ़िलिप चैटवोड की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त हुई और वह ऐसे निष्कर्षों पर पहुँची कि ग्वालियर के जनरल राजवाड़े जैसे

भारतीय सदस्यों को भी उन से असहमत होना पड़ा। आज से पंद्रह वर्ष पूर्व मैं ने अपने एक भाषण में कहा—"क्या इंगलैंड यह चाहता है कि भारत उस का विश्वास करे? अगर हां, तो पहले उसे भारत का विश्वास करना पड़ेगा। और इस संबंध में उस की सच्चाई की कसौटी होगी उस की सैनिक नीति।" आज भी बाध्य हो कर कहना पड़ता है कि उस ने अपनी सच्चाई का प्रमाण नहीं दिया है। इस संबंध में हमारे सम्मानित देशवासी सर शिवास्वामी ऐयर ने असाधारण जानकारी, योग्यता, बुद्धिमत्ता तथा लगन के साथ देश की जो सेवा की है, उस के लिए वे अधिक से अधिक प्रशंसा के पात्र हैं।

अब मुझे देश की राजनीतिक उन्नति के विषय पर आना चाहिए। देश भर में इस बात की मांग हो रही थी कि सन् १९१९ के गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया ऐक्ट (मांटेगू ऐक्ट) में जल्दी से जल्दी इस प्रकार का संशोधन होना चाहिए कि भारत में उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की स्थापना हो जाय। ब्रिटेन की अनुदार सरकार ने इस देशव्यापी मांग की तो उपेक्षा की और सन् १९२७ में उस कमीशन की नियुक्ति कर दी जो उक्त ऐक्ट के अनुसार १९२९ में नियुक्त होने को था। कमीशन की समय से पहले नियुक्ति का कारण भारत-मंत्री लॉर्ड बर्किनहैड ने साफ़ तौर पर यह बतलाया था कि क्या मालूम दो साल बाद मज़दूर दल का मंत्रिमंडल बन जाय और वह न जाने कैसा कमीशन नियुक्त कर दे। यह हुई साइमन कमीशन की नियुक्ति की कथा।

साइमन कमीशन

साइमन कमीशन के सातों सदस्य अंग्रेज़ थे। एक तो भारतीयों को उस में स्थान नहीं दिया गया, और इस के जो कारण दिए गए वे और भी अपमानजनक थे। यह दलील कि कमीशन के सदस्य पार्लामेंट के मेंबर ही हो सकते हैं और इसलिए उन का अंग्रेज़ होना अनिवार्य है, एक बहाना मात्र थी। क्योंकि उस समय पार्लामेंट में भी दो भारतीय सदस्य मौजूद थे, एक तो लॉर्ड सिनहा और

दूसरे मि० साकलतवाला। लेकिन ब्रिटिश सरकार लॉर्ड सिनहा को भी कमीशन में रखने को तैयार न थी, क्योंकि भारतीयों पर छोटेपन की छाप लगी हुई थी। मज़दूर दल के पार्लामेंटरी नेताओं की भी इस में अनुमति थी। भारत ने इस अपमान का जवाब दिया कमीशन का वहिष्कार कर के। वहिष्कार के अगुआ थे सर तेज बहादुर सप्रू और उस के समर्थकों में सर शिवास्वामी ऐयर जैसे सज्जन भी थे। इस अवसर पर कांग्रेसवालों और लिबरलों ने सहयोगपूर्वक कार्य किया। वहिष्कार करनेवालों के जुलूस निकले और पुलिस ने उन पर लाठी चार्ज किए। लाठियों के शिकार होनेवालों में लाला लाजपतराय मुख्य थे। कमीशन की जाँच में भारतवासियों ने बहुत कम दिलचस्पी दिखाई और जब उस की रिपोर्ट काफ़ी देर से सन् १९३० में प्रकाशित हुई तो उस के कुछ विचित्र प्रस्तावों ने भारतवासियों को आश्चर्य-चकित कर दिया। भारत को न तो डामीनियन स्टेटस (साम्राज्यांतर्गत स्वराज्य) देने का प्रस्ताव था और न केंद्र में उत्तरदायित्वपूर्ण शासन स्थापित करने का। वर्तमान केंद्रीय एसेंबली के स्थान पर ऐसी व्यवस्थापिका सभा की स्थापना का प्रस्ताव था, जिस के सदस्यों का निर्वाचन सीधा जनता द्वारा न होता और जिस से यह आशा की गई होगी कि वह सरकारी फ़र्मानों को स्वीकार कर लेगी। भारतीय सेना का नियंत्रण ब्रिटिश सरकार के ही हाथों में रहने को था। हां, उस का ख़र्चा भारत सहन करता रहेगा। इस विचित्र रिपोर्ट के संबध में बस इतना ही कह देना काफ़ी होगा कि सर शिवास्वामी ऐयर जैसे शांत प्रकृति के व्यक्ति को भी उस के बारे में यही कहना पड़ा कि वह कूड़ेखाने में फेंक दिए जाने लायक़ है।

नेहरू कमेटी

भारत केवल साइमन कमीशन का वहिष्कार कर के ही संतुष्ट नहीं हो गया। कांग्रेस ने एक ऐसा विधान तैयार करने के लिए, जिस से देश की आवश्यकताएं तथा जनता की आकांक्षाएं संतुष्ट हो जायँ, एक कमेटी नियुक्त की, जिस में अन्य राज-

नीतिक दलों का भी सहयोग प्राप्त करने की कोशिश की गई। कमेटी के अध्यक्ष थे श्री मोतीलाल नेहरू और उस के सदस्यों में सर अली इमाम, सर तेज बहादुर सप्रू तथा श्री सुभाषचंद्र बोस भी थे। सन् १९२२ के मध्य भाग में कमेटी की रिपोर्ट प्रकाशित हुई और उसी साल अगस्त के महीने में कांग्रेस के तत्कालीन अध्यक्ष डॉ० अनसारी की अध्यक्षता में लखनऊ में एक सर्व-दल-सम्मेलन हुआ, जिस ने नेहरू कमेटी की रिपोर्ट को स्वीकार कर लिया। परंतु मुसलमानों के एक बड़े भाग ने रिपोर्ट की इस आयोजना को स्वीकार नहीं किया कि विभिन्न संप्रदायों के प्रतिनिधियों का चुनाव संयुक्त निर्वाचन-प्रणाली के आधार पर हो। इन मुसलमानों के प्रतिवाद में कांग्रेस के भूतपूर्व अध्यक्ष मौलाना मुहम्मद-अली भी शरीक हो गए। उसी साल के अंत में कलकत्ता में राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। उस में एक दिन के बहस-मुबाहसे के बाद पूर्ण स्वतंत्रता के बजाय साम्राज्यांतर्गत स्वराज्य का प्रस्ताव तो भारी बहुमत से पास हो गया, लेकिन सांप्रदायिक प्रश्न ने फिर वाधा डाल दी और सम्मेलन बिना किसी परिणाम पर पहुँचे समाप्त हो गया।

लॉर्ड अर्विन की घोषणा

अ-भारतीय साइमन कमीशन की नियुक्ति में वायसराय, लॉर्ड अर्विन की भी अनुमति थी। परंतु बाद की घटनाओं से उन्हें इस बात का विश्वास हो गया कि भारतीय असंतोष को शांत करने के लिए कुछ न कुछ करने की आवश्यकता है। वे ईमानदार और ईश्वर से डरनेवाले व्यक्ति हैं, लॉर्ड रिपन के पश्चात् उन जैसा न्याय-प्रिय दूसरा वायसराय नहीं हुआ, और उन में यह साहस भी था कि वे ब्रिटिश सरकार से अपना दृष्टिकोण स्वीकार कराने का आग्रह कर सकें। सौभाग्य से जब १९२९ की ग्रीष्म ऋतु में वे इंगलैंड पहुँचे, तो वहां मज़दूर दल का मंत्रिमंडल बन चुका था और भारत-मंत्री के पद पर मि० वैजवुड बैन जैसे भले और सच्चे सज्जन थे। लॉर्ड अर्विन की विलायत-यात्रा का परिणाम यह निकला कि ३१

अक्टूबर को उन्हों ने गोलमेज़ कान्फ़्रेंस की घोषणा कर दी। उन के इस वक्तव्य की बड़ी प्रशंसा हुई। उस वर्ष के लिबरल फ़ेडरेशन ने इस आशय का प्रस्ताव पास किया—

फ़ेडरेशन वायसराय की घोषणा का स्वागत करता है, क्योंकि उस में प्रामाणिक ढंग से इस बात की पुष्टि कर दी गई है कि १६१७ की घोषणा का अभिप्राय साम्राज्यांतर्गत स्वराज्य है, क्यों कि उस में यह बात निश्चित रूप से स्वीकार कर ली गई है कि ब्रिटिश भारत तथा देशी राज्यों को मिला कर एक महत्तर भारत बनना चाहिए और चूंकि उस में भारत का यह दावा स्वीकार कर लिया गया है कि उसे भारत के भावी विधान के सबंध में ब्रिटिश मंत्रिमंडल के साथ बराबरी के आधार पर बातचीत करने का अधिकार है।

कांग्रेस का रुख

गोल मेज़ कान्फ़रेंस में कांग्रेस के नेताओं का सहयोग प्राप्त करने के लिए हरेक कोशिश की गई, परंतु उन्हों ने कान्फ़्रेंस में सम्मिलित होने के पूर्व असंभव शर्तें पेश कीं। इस के बाद ही लाहौर में श्री जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ और वहां यह प्रस्ताव पास हो गया कि भारत को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करनी चाहिए। फिर शीघ्र ही सत्याग्रह आंदोलन शुरू हो गया। सरकार ने शीघ्रता से कई दमनकारी ऑर्डीनेंस जारी कर के उस का जवाब दिया। इन में से एक ऑर्डीनेंस सन् १६१० वाले प्रेस ऐक्ट का पहले से भी बुरा रूप था। अन्य ऑर्डीनेंसों द्वारा पुलिस तथा शासन विभाग के कर्मचारियों को व्यापक तथा अनियंत्रित शक्तियां प्रदान कर दी गईं, और बड़ी असाधारण कड़ाई के साथ उन का व्यवहार किया गया। लिबरलों का संसार भर में यह कर्तव्य रहा है कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता और पत्रों तथा सभाओं की स्वतंत्रता का पक्ष ग्रहण करें और संपत्ति की ज़ब्ती का विरोध करें। भारतीय लिबरलों को कांग्रेस के सत्याग्रह से किसी प्रकार की सहानुभूति न थी, विशेष कर जब कि वे गोल मेज़ कान्फ़-

रेंस को अपना सहयोग प्रदान कर के उसे और भी अधिक उपयोगी बना सकते थे, फिर भी वे सरकारी दमन-नीति की हृदयहीनता की घोर निंदा करने में किसी से पीछे नहीं रहे।

प्रथम गोल मेज़ कान्फ़रेंस

पहली गोल मेज़ कान्फ़रेंस लंदन में नवंबर, १९३० में हुई। स्वयं सम्राट ने उस का उद्घाटन किया और प्रधान मंत्री ने अध्यक्ष का पद ग्रहण किया। उस में इंगलैंड के तीनों राजनीतिक दलों के प्रमुख व्यक्ति तथा भारत की प्रत्येक जाति तथा कांग्रेस के अतिरिक्त प्रत्येक संस्था के सदस्य मौजूद थे। मैं ने प्रतिनिधि न कह कर सदस्य कहा है, क्यों कि उन्हें उन के देशवासियों ने निर्वाचित नहीं किया था, बल्कि सरकार ने नामज़द किया था। कुल मिला कर उन्हों ने उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए, जिस के लिए प्रत्येक भारतवासी का हृदय उत्सुक है, अपनी शक्ति भर चेष्टा की। 'कुल मिला कर' मैं ने इसलिए कहा है कि सरकार द्वारा चुने हुए सदस्यों में प्रतिक्रियावादियों तथा सांप्रदायिकतावादियों की भी संख्या कम नहीं थी। मेरा तब भी यही विश्वास था और अब भी यही विचार है कि अगर पहली गोल मेज़ कान्फ़रेंस में कांग्रेस के प्रतिनिधि भी होते, तो उस का परिणाम कहीं अधिक लाभदायक होता। कान्फ़रेंस के अध्यक्ष ने कार्यवाही का जो ढंग इख़्तियार किया—शायद इस का कारण समय की कमी रहा हो—उस के फल-स्वरूप कान्फ़रेंस ने स्वयं न तो कोई निर्णय किए और न कोई सिफ़ारिशें कीं। कान्फ़रेंस की सब-कमेटियों ने जो सिफारिशें कीं, वे संतोषजनक तो नहीं कही जा सकतीं, परंतु उन में कुछ ऐसी ज़रूर थीं कि अगर पार्लीमेंट उन्हें क़ानून के रूप में स्वीकार कर लेती, तो वे भारत को स्वराज्य के पथ पर काफ़ी अग्रसर कर देतीं। परंतु वे स्वीकृत नहीं हुईं। कान्फ़रेंस एक हद तक सफल रही। इस का प्रमाण यह है कि कांग्रेसी नेता क़रीब-क़रीब फ़ौरन ही जेलों से छोड़ दिए गए और फिर वायसराय तथा श्री गांधी के बीच मुलाक़ात हुई। इस के फल-स्वरूप कांग्रेस ने सत्या-

यह आंदोलन स्थगित कर दिया और सरकार ने तमाम राजनीतिक क़ैदियों को छोड़ दिया। शीघ्र ही दोनों ओर से एक दूसरे के विरुद्ध इस आशय की शिकायतें होने लगीं कि अरविन-गांधी समझौते का सच्चाई के साथ पालन नहीं किया जा रहा है और एक बार तो इसी कारण महात्मा गांधी ने दूसरी गोल मेज़ कान्फ़रेंस में जाने का विचार छोड़ दिया। परंतु लॉर्ड विलिंगडन, नए वायसराय, की बदौलत कठिनाइयां हल हो गईं और महात्मा गांधी कांग्रेस के प्रतिनिधि-स्वरूप कान्फ़रेंस में शरीक हो गए। कांग्रेस के कुछ अन्य प्रमुख व्यक्ति भी, जैसे पंडित मदन मोहन मालवीय तथा श्रीमती सरोजिनी नायडू, कान्फ़रेंस में सम्मिलित हुए, परंतु कांग्रेस के प्रतिनिधि-स्वरूप नहीं।

दूसरी गोल मेज़ कान्फ़रेंस

महात्मा गांधी ने अपने को कांग्रेस का एकमात्र प्रतिनिधि बना कर ग़लती की। उन्हों ने इस बात का ध्यान नहीं रक्खा कि कान्फ़रेंस में संख्या का भी कुछ महत्व होता है। दूसरी गोल मेज़ कान्फ़रेंस से कुछ समय पूर्व लखनऊ में राष्ट्रवादी मुसलमानों की एक कान्फ़रेंस हुई थी, जिस के अध्यक्ष थे सर अली इमाम। उस ने सांप्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली के विरुद्ध एक ज़ोरदार प्रस्ताव पास किया था। गोल मेज़ कान्फ़रेंस में राष्ट्रवादी मुसलमानों में से केवल सर अली इमाम को ही निमंत्रित किया गया था और वे न जाने क्यों कान्फ़रेंस में प्रायः मौन ही रहे। पहली कान्फ़रेंस की भांति ही दूसरी गोल मेज़ कान्फ़रेंस में भी सांप्रदायिक समस्या की काफ़ी चर्चा रही, परंतु पारस्परिक समझौते के आधार पर उसे हल करने की कोशिशें सफल नहीं हुईं। इस बीच मज़दूर दल के मंत्रिमंडल का अंत हो चुका था और उस के स्थान पर नई सरकार बन चुकी थी जो कहने भर को तो 'संयुक्त' थी, परंतु वास्तव में अनुदार दल की ही थी। इस बार की कान्फ़रेंस में ब्रिटिश सरकार का जो प्रतिनिधि-मंडल था, उस का रुख़ पिछले सालवाले प्रतिनिधि-मंडल से बहुत मुख़्तलिफ़ था। मि० वैजवुड बैन का स्थान सर

सैमुअल होर ने ग्रहण कर लिया था। इन दोनों नामों के उल्लेख से ही यह प्रकट हो जाता है कि ब्रिटेन के रुख़ में कितना अंतर आ गया होगा। कुल मिला कर दूसरी कान्फ़रेंस पहली कान्फ़रेंस की अपेक्षा अधिक असंतोषजनक रही। पहली कान्फ़रेंस मज़दूर दल की सरकार तथा मि० वैजवुड वैन जैसे भारत-मंत्री के समय में हुई थी, और उस के बाद एक ओर तो सत्याग्रह आंदोलन रोका गया तथा दूसरी ओर राजनीतिक क़ैदी छोड़े गए थे। दूसरी कान्फ़रेंस अनुदार दल की सरकार तथा सर सैमुअल होर जैसे भारत-मंत्री के समय में हुई और उस के बाद एक ओर तो फिर से सत्याग्रह का प्रारंभ हुआ और दूसरी ओर दमन—सन् १९३० से भी अधिक भयानक दमन।

टैक्सों में वृद्धि

इस बीच देश की आर्थिक परिस्थिति बहुत ख़राब हो गई थी। सब से अधिक हानि हुई थी किसानों की, क्योंकि कृषि की पैदावार का मूल्य बहुत गिर गया था। सभी जगह सरकारों के सामने यह कठिनाई आ गई थी कि उन की आमदनी कम हो जाने की वजह से ख़र्च का पूरा नहीं पड़ रहा था। और इस कठिनाई को हल किया गया पुराने टैक्सों में वृद्धि कर के और नए टैक्स लगा कर। लोगों को पहले ही आर्थिक कठिनाई थी, इसलिए नए टैक्स उन्हें और भी खले। लोगों की ग़रीबी तथा टैक्सों के भार को देखते हुए होना तो यह चाहिए था कि सरकार ख़र्चे में कमी करती। अर्थशास्त्रज्ञ राजनीतिज्ञों में सब से महान ग्लैडस्टोन का कहना था कि ख़र्चे में कमी कर लेना स्वयं एक आमदनी का ज़रिया है। परंतु हमारी सरकार न तो राष्ट्रीय है, न ज़िम्मेदार और न सहानुभूतिपूर्ण। उस ने लोकमत की अवहेलना की और टैक्सों में वृद्धि कर के अपनी कठिनाई हल की।

लगान-बंदी आंदोलन

संयुक्त प्रांत में जहां कि मद्रास की तरह रैयतवारी नहीं बल्कि ज़मींदारी प्रथा है, सरकार ने किसानों को लगान में छूट की घोषणा करने में भयानक विलम्ब किया और जब घोषणा हुई भी तो मालूम हुआ कि छूट नाकाफ़ी है।

कांग्रेसवादियों ने अर्विन-गांधी समझौते को कभी दिल से पसंद नहीं किया था। एक सज्जन की बाबत तो कहा जाता है कि वे उस के कारण रोए थे। उन्हों ने इस अवसर से लाभ उठाया और लगान-बंदी का आंदोलन शुरू कर दिया। परंतु सर मालकम हेली के इंगलैंड से लौटते ही, संयुक्त-प्रांतीय सरकार ने अपनी पहली सुस्तबाज़ी का प्रायश्चित्त कर डाला और ज़मींदारों को मालगुज़ारी तथा किसानों को लगान में काफ़ी छूट दे दी। लेकिन संयुक्त प्रांतीय कांग्रेस कमेटी तो युद्ध के लिए उतावली हो रही थी और दुर्भाग्य से उसे कांग्रेस की वर्किंग कमेटी की अनुमति भी मिल गई। महात्मा गांधी अभी यूरोप ही में थे कि लगान-बंदी आंदोलन शुरू भी हो गया। जब वे लौट कर आए, तो उन्हों ने देखा कि एक ओर यह आंदोलन था और दूसरी ओर ऑर्डिनेंस जारी हो गए थे। बंगाल तथा सीमा-प्रांत के लिए विशेष ऑर्डिनेंस थे और एक ऑर्डिनेंस ख़ास तौर पर संयुक्त प्रांत में लगान-बंदी के आंदोलन का दमन करने के लिए निकाला गया था। महात्मा गांधी ने मामला तै करा देने की आशा से वायसराय से मुलाक़ात करने की बहुत कोशिश की। दुर्भाग्य से वायसराय ने बंगाल तथा सीमा-प्रांत संबंधी ऑर्डिनेंसों की बाबत बातचीत करने से इनकार कर दिया। और इस के बाद प्रायः तत्काल ही महात्मा गांधी, श्री वल्लभ-भाई पटेल तथा अन्य नेताओं को उन्हीं दक़ियानूसी रेगूलेशनों के सहारे गिरफ़्तार कर लिया गया, जिन से उस ने पहले भी लोगों को बिना अभियोग लगाए और बिना मुक़दमा चलाए जेल में डालने का काम लिया था। श्री जवाहरलाल नेहरू जब गांधीजी से मिलने बंबई जा रहे थे तो मार्ग में गिरफ़्तार कर लिए गए।

फिर सत्याग्रह

युद्ध की घोषणा हो गई और फिर सत्याग्रह-संग्राम छिड़ गया। सरकार ने भी उस का सामना करने में शीघ्रता से काम लिया। उस ने पहले ही से ऑर्डिनेंस पर ऑर्डिनेंस

तैयार कर रक्खे थे और उन्हें एक-एक कर के ताबड़तोड़ तेज़ी से जारी कर दिया गया। यह समझा जाता था कि यह दूसरा सत्याग्रह पहली बार के सत्याग्रह की अपेक्षा जल्द ही ख़तम हो जायगा। परन्तु ऐसा हुआ नहीं। देश में अशांति इतनी गहरी और व्यापक थी, सरकार के प्रति असंतोष इतना घोर था, कि कांग्रेस को अप्रत्याशित सफलता मिली और हज़ारों आदमी ख़ुशी से जेल जाने तथा उस के परिणामों को भोगने के लिए आगे आ गए। न सरकार अपनी कड़ाई में कमी करने को तैयार थी और न कांग्रेस झुकने को। परिस्थिति प्रायः यह हो गई थी कि अपने को कांग्रेसवादी कहने का ही अर्थ गिरफ़्तारी को निमंत्रण देना हो गया था। प्रायः सभी नेता जेलों में पहुँच गए, परंतु आंदोलन में कमी नहीं आई। पुलिस की ज़्यादतियां उतनी ही बुरी थीं जितनी १६३० में, परंतु उन के प्रतिवाद का कोई परिणाम नहीं निकला। ग़ैर-सरकारी अंग्रेज़ों की भी नरमी और मनुष्यता से काम लेने की सलाह पर सरकार ने ध्यान नहीं दिया। आश्चर्य नहीं कि अंत में आंदोलन का दमन हो गया। कांग्रेस एक प्रकार से ब्रिटिश सरकार के अस्तित्व को ही मानने से इनकार कर रही थी, और यह आशा नहीं की जा सकती थी कि सरकार इस चुनौती को स्वीकार न करेगी। यह भी स्मरण रखने की बात है कि सरकार तथा कांग्रेस की शक्ति में बड़ा भारी अंतर था। सन् १६३० में समझौता कराने की कोशिशें कांग्रेस के लीडरों के हठ के कारण असफल हुई थीं, यद्यपि लॉर्ड अर्विन उस के लिए उत्सुक थे। सन् १६३२ में किए गए प्रयत्न भी विफल हुए। पहली बार मि० वैजवुड बेन भारत-मंत्री थे और अब की बार सर सैमुअल होर। उन्हों ने सार्वजनिक रूप से घोषणा कर दी थी कि जब तक आंदोलन का अंत न हो जाय, सरकार सब कुछ करने के लिए प्रस्तुत है। वे समझौते के लिए तैयार नहीं थे। सन् १६३३ में आंदोलन निर्जीव हो गया, परंतु उसे बाक़ायदा स्थगित किया गया अगले वर्ष।

साम्प्रदायिक निर्णय

अगस्त, १९३२, में प्रधान मंत्री का सांप्रदायिक निर्णय प्रकाशित हुआ। वह हिंदुओं के प्रति घोर अन्यायपूर्ण था, विशेष कर पंजाब और बंगाल के हिंदुओं के प्रति जो कि अपने प्रांतों में अल्पसंख्यक समुदाय हैं। निर्णय की एक विशेषता थी दलित जातियों के लिए पृथक निर्वाचन-प्रणाली की व्यवस्था। इस से महात्मा गांधी को इतना एतराज़ था कि उन्हों ने यरवदा जेल में आमरण अनशन प्रारंभ कर दिया।

पूना पेक्ट

हिंदू जाति के नेता दौड़ कर वहां पहुँचे और एक महान संकट को रोकने के लिए उन्हों ने हरिजनों के नेताओं से समझौता किया। इस समझौते से पृथक निर्वाचन का समूल अंत तो नहीं हुआ, हां उस में कुछ कमी अवश्य हो गई। दूसरी ओर प्रधान मंत्री के निर्णय के अनुसार हरिजनों को जितना प्रतिनिधित्व मिला था उस की मात्रा में भारी वृद्धि हो गई। इस समझौते से हिंदू जाति की स्थिति को समष्टि रूप से, और सब से अधिक बंगाल में, भारी धक्का लगा है। उक्त प्रांत में पहले तो सरकार ने हिंदुओं और मुसलमानों दोनों के साथ अन्याय कर के यूरोपियनों को अत्यधिक प्रतिनिधित्व प्रदान कर दिया था और फिर पूना में एकत्र होनेवाले हिंदू नेताओं ने हरिजनों को अत्यधिक प्रतिनिधित्व दे दिया। पूना पेक्ट के पक्ष में जो कुछ सफ़ाई दी जा सकती है वह केवल यह है कि गांधी जी के जीवन की रक्षा करने के लिए ऐसा करना आवश्यक हो गया था।

ऐक्य सम्मेलन

दलित जातियों संबंधी वाद-विवाद का अंत होते ही पंडित मदन मोहन मालवीय ने, जिन की अदम्य आशावादिता कभी-कभी परिस्थिति की वास्तविकता की भी उपेक्षा कर जाती है, प्रयाग में ऐक्य सम्मेलन की व्यवस्था कर डाली। दोनों जातियों के प्रतिनिधि यथेष्ट संख्या में उपस्थित थे और सलेम के वयोवृद्ध नेता श्री विजयराघवाचार्य ने अध्यक्ष का आसन ग्रहण किया। पूरा तथा स्थायी

समझौता हो सकना तो कठिन दिखाई दिया, परंतु अनेक बातों के संबंध में सद्भावनापूर्ण समझौता हो गया और एक कमेटी बंगाल विषयक बातों का निर्णय कराने के लिए कलकत्ता गई। जिन बातों पर समझौता हो गया था उन में एक बात यह थी कि केंद्रीय व्यवस्थापिका सभा में ब्रिटिश भारत के मुसलमानों को ३२ प्रतिशत प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। समझौते की एक और बात यह थी कि सिंध को एक पृथक प्रांत बना दिया जाय, परंतु उस के खर्चे के लिए भारत सरकार से सहायता न दी जाय और वहां के अल्पसंख्यक हिंदुओं की रक्षा की समुचित व्यवस्था कर दी जाय। दुर्भाग्य से समझौते की यह बात ज़ाहिर हो गई और जब सम्मेलन की कमेटी की कलकत्ता में बैठकें हो रही थीं, तभी सर सैमुअल होर ने लंदन में घोषणा कर दी कि ब्रिटिश सरकार ने यह निर्णय कर लिया है कि केंद्रीय व्यवस्थापिका सभा में मुसलमानों को ३३$\frac{1}{3}$ प्रतिशत यानी एक तिहाई प्रतिनिधित्व मिलेगा और सिंध को पृथक प्रांत बना कर उसे भारत-सरकार से आर्थिक सहायता दी जायगी। हिंदुओं की रक्षा की व्यवस्था की कोई बात नहीं कही गई। इस घोषणा का जादू का सा असर हुआ और जो कमेटी कलकत्ता में समझौता कराने का प्रयत्न कर रही थी, उस का फ़ौरन ख़ातमा हो गया। एक संप्रदाय को अब समझौते की आवश्यकता ही क्या रह गई थी?

तीसरी गोल मेज़ कान्फ़रेंस

१९३२ में एक और गोल मेज़ कान्फ़रेंस हुई। अब की बार सदस्यों की संख्या बहुत कम कर दी गई थी और उस में प्रतिक्रियावाद का बोल बाला रहा। पिछली दो कान्फ़रेंसों के जिन सदस्यों की उपस्थिति अधिकारियों को वांछनीय नहीं ज्ञात हुई, उन्हें अब की बार निमंत्रित नहीं किया गया। सर सैमुअल होर को माननीय श्रीनिवास शास्त्री जैसे सज्जनों को भी निमंत्रित करने की आवश्यकता नहीं महसूस हुई। इस कान्फ़रेंस से जैसे निष्कर्षों की आशा की जा सकती थी, वैसे ही वे थे। मैं ऊपर उस भावना का एक

उदाहरण दे चुका हूं जिस से प्रेरित हो कर यह कान्फ़रेंस की गई थी और जिस की वजह से हिंदू-मुसलिम ऐक्य के ग़ैर-सरकारी प्रयत्न सफल नहीं हो सके। बुराई का बीज तो पिछले वर्ष ही बोया जा चुका था जब कि अल्प-संख्यक समुदायों ने आपस में एक समझौता कर के उसे प्रधान मंत्री को पेश किया था। उस का रहस्योद्‌घाटन उस उल्लेखनीय पत्र से हुआ था जिसे सर एडवर्ड बैन्थौल ने लिखा था, जिन्हें अंदर ही अंदर घटनेवाली सब घटनाओं की जानकारी थी। स्वभावतः यह पत्र साधारण जनता के लिए नहीं था बल्कि कलकत्ता के "रायलिस्टों" के लिए लिखा गया था, परंतु किसी प्रकार वह समाचारपत्रों के हाथ लग कर प्रकाशित हो गया।

वाइट पेपर

ब्रिटिश सरकार ने भारत के नए विधान के संबंध में अपना निर्णय मार्च, १९३३ में एक वाइट पेपर (श्वेत पत्र) के रूप में प्रकाशित किया। श्वेत पत्र की आयोजना इतनी प्रतिक्रियापूर्ण तथा असंतोपजनक थी कि भारत के प्रत्येक उन्नतिशील दल ने उसे स्वीकृति के पूर्णतः अयोग्य बतलाया। प्रायः सभी भारतीय नेताओं ने उस की कठोर भाषा में निंदा की। उस में और गोल मेज़ कान्फ़रेंस की कमेटियों की अनेक सिफ़ारिशों में कोई सादृश्य ही नहीं दिखाई पड़ता था। जुलाई, १९३० में केंद्रीय व्यवस्थापिका सभा में भाषण करते हुए लॉर्ड अर्विन ने कहा था :—

ब्रिटिश सरकार का यह विश्वास है कि कान्फ़रेंस के मार्ग से ऐसे निष्कर्षों पर पहुँच सकना संभव है जो दोनों देशों और सभी राजनीतिक दलों तथा हितों को सम्मानपूर्वक मान्य हो सकें... इस प्रकार के जिस किसी भी समझौते पर कान्फ़रेंस पहुँच सकेगी, उसी के आधार पर ब्रिटिश सरकार प्रस्ताव तैयार कर के उन्हें पार्लीमेंट के सम्मुख उपस्थित करेगी। ब्रिटिश सरकार का उद्देश्य यह नहीं है कि कान्फ़रेंस में कोरा वाद-विवाद ही हो कर रह जाय, बल्कि यह है कि दोनों देशों के प्रतिनिधि मिल कर ऐसा समझौता कर सकें जिस के आधार पर पार्ली-

पेंट के सम्मुख उपस्थित करने के लिए निश्चित-प्रस्ताव तैयार किए जा सके।

फिर भी ब्रिटिश सरकार ने किया वही जो उस के मन में आया।

सलेक्ट कमेटी की रिपोर्ट

गोल मेज़ कान्फ़्रेंसों के भारतीय सदस्यों द्वारा प्रकट किए गए विचारों को तो उस ने इतना कम महत्व दिया कि अगर ये कान्फ़्रेंसें न भी की गई होतीं तो भी कोई विशेष अंतर न पड़ा होता। श्वेत पत्र की आयोजना में भारतवासियों की हार्दिक आकांक्षाओं की निर्दयतापूर्ण अवहेलना की गई थी। आयोजना पर विचार करने के लिए पार्लीमेंट की एक सलेक्ट कमेटी नियुक्त की गई और उस के साथ कुछ भारतीयों को भी नामज़द कर दिया गया जो गवाहों से जिरह करने में तो भाग ले सकते थे, परंतु कमेटी के वाद-विवाद तथा विचार-विनिमय में नहीं। ब्रिटिश भारत के सब भारतीय प्रतिनिधियों ने मिल कर हिज़ हाईनैस आगा ख़ां के नेतृत्व में एक संयुक्त वक्तव्य कमेटी के विचारार्थ पेश किया और सर तेजबहादुर सप्रू ने अलग से एक दूसरा वक्तव्य। इन सज्जनों के वक्तव्यों में कोई ग़ैर-वाजिबी मांगें नहीं पेश की गई थीं, परंतु कमेटी ने उन्हें ऐसी बेपरवाही से उड़ा दिया जैसे वह कोई पागलों का प्रलाप रहा हो। कमेटी ने बहुमत से जो प्रस्ताव किए वे प्रायः वही थे जो श्वेत पत्र में किए गए थे। जहां कहीं उस ने उस से भिन्न मत प्रकट किया, वह भारत के अनुकूल न हो कर और भी प्रतिकूल था। कमेटी के नए प्रस्तावों में सब से अधिक आपत्तिजनक बात यह थी कि केंद्रीय व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों का निर्वाचन सीधा वोटरों द्वारा न होगा। घोर संप्रदायवादियों तथा प्रतिक्रियावादियों के अतिरिक्त सभी सार्वजनिक संस्थाओं तथा सभी व्यक्तियों ने कमेटी की रिपोर्ट की कड़ी से कड़ी निंदा की। इतनी बड़ी किसी भी आयोजना की बाबत यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि उस में कुछ भी अच्छी बातें होंगी ही नहीं। मैं स्वीकार करता हूं कि उस में कुछ अच्छी बातें भी हैं। परंतु हमारा कर्तव्य है कि हम

आयोजना की समष्टि रूप से परीक्षा करें और उस की भली-बुरी दोनों ही तरह की बातों पर विचार करें। भारत का निश्चित मत यह है कि इस आयोजना में भली बातों की अपेक्षा बुरी बातों की मात्रा बहुत अधिक है, केंद्रीय सरकार के क्षेत्र में तो निश्चय ही, और कुल मिला कर इस के द्वारा होनेवाली राजनीतिक प्रगति इतनी काफ़ी नहीं कि देश उस का हर्ष-पूर्वक स्वागत कर सके। और इस निष्कर्ष में कांग्रेसवादी, लिबरल तथा अन्य राष्ट्रवादी सभी एकमत हैं।

नया ऐक्ट

ब्रिटेन की अनुदार सरकार ने भारतीय लोकमत की ओर ध्यान नहीं दिया। उस के अपने कट्टरपंथी दल ने इस प्रस्तावों के विरुद्ध भी विद्रोह कर दिया। सरकार को केवल उसी की चिंता रही और उस को संतुष्ट करने की कोशिश में वह उस से और भी दबती गई। और तब जा कर सन् १९३५ का गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया ऐक्ट पार्लामेंट से पास हुआ। इस ऐक्ट में भारत के साथ भारी अन्याय हुआ है और यह दुर्भाग्य का विषय है कि भारत में सांप्रदायिक तथा अन्य प्रकार के इतने अधिक मतभेद हैं कि वह उस प्रकार का ज़ोरदार प्रतिवाद नहीं कर सकता जैसा कि सच्ची एकता होने पर ही किया जा सकता है।

समग्र भारत का एक संघ (फ़ेडरेशन) की छत्रछाया में आ जाना तो हर तरह से एक वांछनीय बात ही है। भारत की केंद्रीय सरकार को फ़ेड-रल सरकार का रूप दिया जाना ठीक ही है। प्रांतों में हस्तांतरित और संरक्षित विभागों वाली द्वैध शासन-प्रणाली का अंत हो गया, यह भी अच्छा ही हुआ। कौंसिलों के चुनाव में वोट दे सकने का अधिकार पहले की अपेक्षा बहुत अधिक लोगों को दे दिया गया है, यह नए ऐक्ट की सब से अधिक संतोषजनक बात है। परंतु बस, उस की प्रशंसा में इतने से अधिक और कुछ भी नहीं कहा जा सकता। जो फ़ेडरेशन स्थापित होने जा रहा है वह केवल नाम मात्र को ही फ़ेडरेशन होगा। देशी राज्यों के नरेशगण तो अपने केंद्रीय प्रतिनिधियों के द्वारा ब्रिटिश भारत के मामलों

में भी हस्तक्षेप कर सकेंगे, परंतु देशी राज्यों के शासन के संबंध में ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधि एक शब्द भी न कह सकेंगे। देशी नरेश ब्रिटिश सरकार का असीमित आधिपत्य तो स्वीकार कर सकते हैं, परंतु अपनी प्रजा का अथवा अपने ब्रिटिश भारत के देशवासियों का विश्वास करने के लिए तैयार नहीं हैं। देशी राज्यों की प्रजा के अधिकारों में कोई वृद्धि न होगी। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूं, अधिकांश रियासतों की प्रजा को किसी प्रकार के अधिकार नहीं हैं और केंद्रीय व्यवस्थापिका सभा में भी उस के प्रतिनिधि न रहेंगे। ब्रिटिश सरकार ने वायसराय तथा प्रांतीय गवर्नरों के द्वारा अपने हाथ में इतनी अधिक शक्ति रख ली है कि जिस मामले में वह चाहेगी उस में उसी की चलेगी और ब्रिटेन के हित सुरक्षित रहेंगे। केंद्रीय सरकार तथा व्यवस्थापिका सभा का सैनिक मामलों में कोई नियंत्रण न होगा। भावी अर्थ-मंत्री को टैक्सों के द्वारा धन तो वसूल करना होगा, परंतु उस के अधिकांश भाग को व्यय करने के संबंध में उसे कोई अधिकार न रहेगा। भावी सरकार तथा व्यवस्थापिका सभा भारतीय वाणिज्य-व्यवसाय की रक्षा के लिए ब्रिटेनवालों की मर्ज़ी के ख़िलाफ़ कुछ भी न कर सकेंगी। शांति तथा सुव्यवस्था की रक्षा का कार्य निस्संदेह प्रांतीय मंत्रियों के हाथों में रहेगा, परंतु साथ ही पुलिस की एक विशेष स्थिति रहेगी और गवर्नर-जनरल तथा गवर्नरों के हाथ में हस्तक्षेप कर सकने की प्रायः निस्सीम शक्ति रहेगी। भारतीय नौकरियों के कर्मचारियों पर भारत-मंत्री की विशेष छत्रछाया रहेगी। वही उन की भरती करेंगे, न कि भारत-सरकार। आई० सी० एस०, आई० पी० एस०, आई० एम० एस०, आदि के कर्मचारी पूरी तरह मंत्रियों के नियंत्रण में न रहेंगे और चाहें तो उन से झगड़ भी सकेंगे। सांप्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली रहेगी, जो ऐक्य की भावना को प्रोत्साहन प्रदान करने के बजाय सांप्रदायिक अनैक्य की वृद्धि करेगी। और फिर अधिकांश प्रांतों में लैजिस्लेटिव एसेंबली के साथ कौंसिल भी रहेगी। पंजाब की एसेंबली के सिर यह कौंसिल नहीं लादी गई है, शायद

इसलिए कि वहां मुसलमानों का बहुमत है।[1] लॉर्ड रसैल ने ब्रिटेन की लॉर्ड-सभा को "प्रत्येक अच्छे कार्य का पुराना शत्रु" कहा था। हमारी दिल्ली और शिमला की नक़ली लॉर्ड-सभा (केंद्रीय लेजिस्लेटिव कौंसिल) अपने पिछले पंद्रह वर्ष के कार्य से इसी प्रकार की उपाधि की अधिकारिणी प्रमाणित हो चुकी है। अब जो कौंसिलें प्रांतों में स्थापित होने जा रही हैं, उन का भी ऐसा ही रुख़ होगा। मुझे आशंका है कि वे देहातों संबंधी सुधार में बाधा डालेंगी और इस प्रकार किसानों में अराजकता का प्रचार करनेवालों का मार्ग प्रशस्त करेंगी। नए ऐक्ट की अंतिम विशेषता है भारत से बरमा तथा अदन का छिन जाना। अगर कोई भारतीय सुधारों की इस

---

[1] मि० एच० बी० लीज़-स्मिथ ने, जो मज़दूर-दल के मंत्रि-मंडल के सदस्य रह चुके हैं, अक्टूबर, १९३५ के "करेंट हिस्टरी" में 'भारत के लिए स्वराज्य' विषयक लेख में लिखा है :—

हिंदू-मुसलमानों के बीच एक ज़माने से चले आनेवाले वैमनस्य को पृथक निर्वाचन-प्रणाली द्वारा स्थायित्व प्राप्त हो जाता है और आर्थिक तथा सामाजिक सिद्धांतों के आधार पर राजनीतिक दलों का स्वस्थ विकास प्रायः असंभव हो जाता है।......मुसलमानों, सिक्खों, हरिजनों, नरेशों, आदि-आदि को संरक्षण प्रदान करने का परिणाम हिंदू राष्ट्रवादी नेताओं पर भारी वार है। उन के अनुयायियों के लिए केंद्रीय व्यवस्थापिका सभा के जिन स्थानों का मार्ग खुला रह गया है, उन की संख्या तिहाई भी नहीं है। अगर उन के अनुयायियों की चुनाव में सर्वत्र विजय हो जाय तो भी उन का बहुमत नहीं हो सकता। गांधीजी और कांग्रेस ने भारत के लिए पार्लीमेंटरी शासन-प्रणाली तो प्राप्त कर ली, परंतु ऐसा करने में उन्हें अपने ही देश के अल्पसंख्यक समुदायों के साथ ऐसे समझौते करने पड़े हैं जिन्हों ने उन्हें पीढ़ियों के लिए बंधनों में जकड़ दिया है।

आयोजना के लिए उत्साह का अनुभव कर सकता है, तो मुझे तो उस से ईर्ष्या न होगी। मैं तो उस के लिए उत्साह का अनुभव नहीं कर सकता।

बंगाल में आतंकवाद

बंगाल का आतंकवाद, जिस का प्रारंभ बंग-भंग के आंदोलन के दिनों में २८ वर्ष पहले हुआ था, अब भी पूरी तरह ख़तम नहीं हो पाया है। सरकार ने उस का मूलोच्छेद करने के प्रयत्न में कोई बात उठा नहीं रक्खी है, परंतु उसे पूरी सफलता नहीं मिली है या यों कहना चाहिए कि उसे अधूरी सफलता मिली है। उस की ग़लती यह है कि उस ने प्रायः केवल दमन का ही सहारा लिया है। इतना दमन हुआ है कि इस आशंका के लिए काफ़ी कारण मौजूद है कि अपराधियों के साथ ही निर्दोषों को भी दंड भुगतना पड़ा है। कभी-कभी दमन के ढंगों की बदौलत शांतिप्रिय लोगों को भी कष्ट पहुँचा है। जब और जहां निर्दोषों को दंड मिला है तब और वहां कटुता का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था। सरकार का उद्देश्य यह होना चाहिए था कि जनता की सहानुभूति प्राप्त कर के ऐसी कार्यवाही करती जिस पर उसे आपत्ति न होती। यह किसी की इच्छा नहीं कि आतंकवाद जारी रहे। मेरा तो अनुमान है कि स्वयं आतंकवादियों में भी ऐसे बहुतेरे लोग होंगे जो अपने जघन्य कार्य को छोड़ कर अगर संभव हो तो सम्मान-पूर्ण जीवन व्यतीत करना चाहते होंगे। परंतु नौकरशाही को सदा अपनी क्षमता में आवश्यकता से अधिक विश्वास रहा है और उस ने आतंकवाद का दमन करने के लिए अपने मन के मुताबिक ही कार्यवाही की है और आवश्यकता से अधिक कड़ाई की है। जनता को तमाशबीन बनने के सिवाय और कुछ करने का मौक़ा नहीं मिला। वह सरकारी नीति पर कुछ प्रभाव डालना ज़रूर चाहती रही है, परंतु उस की सुनता कौन है? नौकर-शाही ने इतिहास से यह शिक्षा ग्रहण नहीं की है कि लोकमत क़ानून का सब से बड़ा सहायक है और उस की सहानुभूति खो देना बुद्धिमत्तापूर्ण शासन का लक्षण नहीं है। इस के सिवाय सरकार ने इस सीधी-सादी

और साफ़ ज़ाहिर बात की ओर भी काफ़ी ध्यान नहीं दिया है कि राजनीतिक असंतोष की ही भांति आतंकवाद की असली जड़ भी जीवन-संघर्ष की कठिनाई ही है। सर वर्नी लोवेट की अध्यक्षता में बैठनेवाली कमेटी ने बंगाल के शिक्षित युवक वर्ग की दयनीय परिस्थिति पर ज़ोर दिया था और उसे सुधारने के लिए कुछ सिफ़ारिशें भी की थीं। लेकिन बंगाल सरकार ने कमेटी की किसी भी महत्वपूर्ण सिफ़ारिश को कार्य-रूप में परिणत करने के लिए विशेष उद्योग नहीं किया। अभी हाल में इस आशा की थोड़ी सी झलक दिखाई पड़ने लगी है कि आखिर सरकार की समझ में रचनात्मक कार्य की आवश्यकता कुछ आने लगी है। उस के इस संबंध के विचारों का फल क्या होता है, यह समय ही बतावेगा। एक अप्रकाशित स्थान पर प्रकाश की रेखा दिखाई पड़ रही है। बंगाल की सन् १९३४ की शासन संबंधी वार्षिक रिपोर्ट में न जाने कहां से यह वाक्य आ गया है जो साधारणतः किसी राष्ट्रवादी पत्र में दिखाई पड़ना चाहिए था "आतंकवाद का अभी तक बंगाल में मूलोच्छेद नहीं हुआ है, और केवल विशेष क़ानूनों के सहारे कभी होगा भी नहीं।" क्या यह आशा की जा सकती है कि यह वाक्य बंगाल के प्रत्येक गवर्नर के हृदय पर खचित हो जायगा? और क्या यह आशा करना उचित होगा कि वायसराय तथा गवर्नर इस वाक्य से प्रकट होनेवाली आवश्यकता की पूर्ति की ओर ध्यान देंगे?

बेकारी

बेकारी की समस्या केवल बंगाल तक ही सीमित नहीं है। पश्चिमी राष्ट्रों में तो मज़दूरी-पेशा वर्ग की विस्तृत बेकारी एक प्रथम श्रेणी की राजनीतिक समस्या बन गई है। भारत में कृषि का कार्य करनेवाले लोगों में प्रति वर्ष कुछ महीने तो स्थायी बेकारी रहती है। विदेशी माल की आमद से और ख़ुद हिंदुस्तान में स्वदेशी उद्योग-धंधों के विकास से भी, देहातों में बेकारी बढ़ गई है क्योंकि किसानों से उन के गौण व्यवसाय छिन गए हैं। परंतु यद्यपि इस समस्या

का अस्तित्व तो स्वीकार कर लिया गया है, उसे दूर करने का प्रयत्न तो दूर रहा, उस से कोई खास चिंता भी उत्पन्न नहीं हुई है। लेकिन शिक्षित वर्ग की बढ़ती हुई बेकारी ने एक चिंताजनक राष्ट्रीय समस्या का रूप ग्रहण कर लिया है। उसे हल करने का कोई उपाय खोजने के लिए यत्र-तत्र उपाय भी हुए हैं, परंतु बेकार। इस समय बेकारी संबंधी दो कमेटियां बैठी हुई हैं—एक तो संयुक्त प्रांत में और दूसरी बिहार में। पहली कमेटी को सर तेज बहादुर सप्रू जैसे सुयोग्य अध्यक्ष मिल गए हैं, जिन्हों ने इस विषय पर अनवरत रूप से, सच्चे हृदय से और परिश्रमपूर्वक विचार किया है। उन की कमेटी की रिपोर्ट शीघ्र ही जनता के सम्मुख आ जायगी, परंतु उस की उपयोगिता सरकार पर निर्भर करेगी।[1] एक बात निश्चित है—अगर सरकार रचनात्मक कार्यों के विकास के लिए काफ़ी रुपया ख़र्च नहीं कर सकती या ख़र्च करना चाहती नहीं, तो कोरी कमेटियों से कुछ भी न होगा। महात्मा गांधी के ग्राम-उद्योग-सहायक संघ की बदौलत सरकार का भी ध्यान ग्राम-सुधार की ओर गया है। परिणाम भविष्य के गर्भ में है।

समाचारपत्र

सरकारी नीति द्वारा उपस्थित होनेवाली असाधारण कठिनाइयों के रहते हुए भी, इस काल में समाचारपत्रों की उन्नति जारी रही। मद्रास प्रांत में 'आंध्र पत्रिका' ने आंध्र जनता को शिक्षित करने में बड़ा कार्य किया है, जिस प्रकार 'स्वदेश-

[1] इस बीच सप्रू कमेटी की रिपोर्ट प्रकाशित हो गई है। उस में बेकारी के प्रश्न की विस्तार के साथ जैसी समीक्षा की गई है वैसी अभी तक भारत में अन्यत्र नहीं हुई है। और मुझे यह स्वीकार करते हुए प्रसन्नता होती है कि अपनी आर्थिक शक्ति के अनुसार संयुक्त प्रांतीय सरकार उस की सिफ़ारिशों पर अमल करने की भी यथाशक्ति कोशिश कर रही है। लॉर्ड लिनलिथगो के नेतृत्व में भारत-सरकार भी रिपोर्ट पर विचार कर रही है।

'मित्रन' ने तामिल जनता में। 'आंध्र पत्रिका' श्री नागेश्वर राव की दानशीलता तथा स्वदेशभक्ति का फल है। जहां कहीं भी सत्कार्य का कोई मूल्य है वहां श्री नागेश्वर राव का अवश्य सम्मान होगा। 'हिंदू' की उन्नति तथा सफलता जारी है और उस का अब भी भारतीय पत्रों में प्रमुख स्थान है। श्री कस्तूरीरंग ऐयंगार के बाद उस के संपादक श्री रंगास्वामी ऐयंगार हुए जो वैधानिक तथा आर्थिक प्रश्नों के बड़े अच्छे जानकार थे। उन के असामयिक स्वर्गवास से भारत के पत्र-जगत की भी तथा सार्वजनिक जीवन की भी भारी क्षति हुई है। 'जस्टिस' जैसा कि उस के नाम से प्रकट है, जस्टिस पार्टी का पत्र है। मद्रास प्रांत के दो अन्य दैनिक पत्र 'स्वराज्य' तथा 'इंडिअन एक्सप्रेस' हैं। बंबई में मि० जहांगीर पैटिट ने 'इंडिअन डेली मेल' पर लाखों रुपया ख़र्च किया, परंतु वह चल न सका। पूना के मराठी दैनिक 'ज्ञान-प्रकाश' को श्री गोखले ने भारत-सेवक समिति के लिए प्राप्त कर लिया था और वह अच्छा कार्य कर रहा है। समिति अंग्रेज़ी में भी 'सर्वेंट ऑफ़ इंडिआ' नामक साप्ताहिक पत्र निकालती है। इस के प्रथम सम्पादक स्वयं श्री श्रीनिवास शास्त्री थे। उन के बाद मि० वझे तथा मि० कोदंडराव जो दोनों ही समिति के सदस्य हैं, उस के द्वारा लोक-सेवा का सुंदर कार्य करते रहे हैं।[1] मि० हार्नीमैन फिर भारतीय पत्र-जगत में आ गए हैं और अब 'बांबे सेंटिनल' का सम्पादन कर रहे हैं। बंगाल में सुरेंद्रनाथ बनर्जी के 'बंगाली' का अंत हो गया और 'हिंदू पेट्रिअट' तथा 'इंडिअन मिरर' का अंत पहले ही हो गया था। 'अमृतबाज़ार पत्रिका' का अब भी बंगाल के पत्रों में प्रमुख स्थान है, यद्यपि उस के महान संपादक बाबू मोतीलाल घोष अब नहीं रहे। 'फ़ॉर्वर्ड' और 'ऐडवांस' नामक दो पत्र इस बीच और निकले। बंगला पत्र 'आनंदबाज़ार पत्रिका' के भी जन्मदाता शिशिर कुमार घोष तथा मोतीलाल घोष ही थे। यह पत्र अब दूसरों के हाथों में

[1] अभी हाल में इस पत्र का अंत हो गया।

चला गया है और उस की ग्राहक-संख्या भारत के किसी भी अन्य पत्र से अधिक है। लाला लाजपत राय ने लाहौर से उर्दू में 'वंदे मातरम्' और अंग्रेज़ी में 'पीपिल' निकाला। इन में से पिछला लाला जी द्वारा स्थापित लोक-सेवक समिति का पत्र है। दिल्ली से दो राष्ट्रीयतावादी पत्र निकलते हैं, एक तो 'हिंदुस्तान टाइम्स' (जिस के लिए देश लाला लाजपत राय, पंडित मदन मोहन मालवीय तथा सेठ घनश्याम दास बिड़ला का आभारी है) और दूसरा 'नेशनल कॉल।' पटना की भौगोलिक परिस्थिति के कारण बिहार में समाचारपत्रों की स्थिति अच्छी नहीं रही है। उस नगर से दो राष्ट्रीय पत्र निकल रहे हैं, एक तो 'सर्चलाइट' (कांग्रेसी) और दूसरा 'इंडिअन नेशन' (जिस के स्वामी महाराजाधिराज दरभंगा हैं)। मध्य प्रांत से अब 'डेली न्यूज़' तथा भारत-सेवक समिति का 'हितवाद' निकल रहे हैं। इस समय के दो पत्रकार अपने उत्तम कार्य के लिए सम्मानपूर्ण उल्लेख के अधिकारी हैं—'ट्रिब्यून' के संपादक बाबू कालीनाथ राय और 'बांबे क्रॉनिकिल' के संपादक सैयद बरेलवी। इस काल में पहले 'यंग इंडिआ' और नवजीवन' के द्वारा और फिर 'हरिजन' के द्वारा महात्मा गांधी भी पत्र-जगत में रहे हैं। जैसे वे अद्वितीय राजनीतिज्ञ हैं, वैसे ही अद्वितीय पत्रकार भी हैं। वे अपने किसी पत्र में एक भी विज्ञापन नहीं जाने देते। उन के लेखों की भाषा बाइबिल जैसी शुद्ध अंग्रेज़ी रहती है।

इस काल के सार्वजनिक कार्यकर्ताओं में सब से पहला स्थान

महात्मा गांधी

स्वभावतः तथा निस्संदेह महात्मा गांधी का है। वे जैसे बिरले हैं, वैसा ही अद्वितीय उन का व्यक्तित्व है। और कोई ऐसा नहीं है जिस की उन से तुलना की जा सकती हो। उन के पहले के या उन के समय के किसी भी अन्य नेता को जनता के हृदय पर वह आधिपत्य प्राप्त नहीं हुआ है जो उन्हें प्राप्त है। सन् १९०९ की लाहौर कांग्रेस में ट्रांसवाल संबंधी प्रस्ताव पर भाषण करते हुए श्री गोखले ने उन का यह शब्द-चित्र खींचा था :—

मि० गांधी ने इस मामले में (दक्षिणी अफ्रीका के भारतीयों के संग्राम में) जो चिरस्मरणीय भाग लिया है, उस के बाद किसी भी भारतीय के लिए यहां अथवा भारतीयों की किसी भी अन्य सभा में उन का नाम लेते समय प्रेम तथा गर्व की भावना का अनुभव न करना संभव न होगा। अपने जीवन की जिन बातों पर मुझे विशेष रूप से गर्व है, उन में एक यह भी है कि मेरा श्री गांधी से घनिष्ठ परिचय है। और इस परिचय के आधार पर मैं कह सकता हूँ कि उन से अधिक पवित्र, अधिक उदार, अधिक साहसपूर्ण और अधिक उच्च कोई दूसरी आत्मा इस संसार में कभी नहीं आई। श्री गांधी उन व्यक्तियों में से हैं जो स्वयं कठोर संयम तथा सादगी का जीवन व्यतीत करते हुए और प्रेम, सत्य तथा न्याय के सर्वोच्च सिद्धांतों का पालन करते हुए अपने कमज़ोर भाइयों को भी जैसे दिव्य दृष्टि प्रदान कर देते हैं। वे मनुष्यों में एक मनुष्य, वीरों में एक वीर, देशभक्तों में एक देशभक्त हैं। हम यह बिना संकोच के कह सकते हैं कि वर्तमान समय में भारतीय मानवता ने उन में अपना चरम विकास प्राप्त कर लिया है।

श्री गांधी में ऐसे बहुत-से गुण हैं जो उन्हें उस उपाधि का अधिकारी बना देते हैं जो उन के देशवासियों ने उन्हें भेंट की है। वे वास्तव में महात्मा हैं। अपने समय में उन्हें बैरिस्टरी में अच्छी सफलता प्राप्त हुई थी। परंतु उन दिनों की बाबत भी मुझे यह बात स्वयं उन्हीं से मालूम हुई थी कि अगर किसी मुक़दमे में किसी भी समय उन्हें यह ख़्याल हो जाता था कि उन के मुअक्किल ने उन्हें सच-सच बातें नहीं बताई हैं, तो वे मुअक्किल का मेहनताना लौटा देते थे और उस मुक़दमे से अलग हो जाते थे। बरसों की वकालत में उन्हों ने जो कुछ बचाया था, वह उन्हों ने अपने दक्षिणी अफ्रीका-प्रवासी भाइयों को दे दिया। उन्हें रुपए की कोई आवश्यकता ही नहीं रह गई थी। जब तक कि उस की उन्हें देश के कार्य के लिए आवश्यकता न हो, उन्हें रुपए से मोह होना तो दूर रहा, उस के

प्रति तिरस्कार की भावना है। भय क्या वस्तु है, यह तो उन्हों ने कभी जाना ही नहीं। मैं किसी दूसरे व्यक्ति को नहीं जानता जिस ने भय के विचार को इतनी दूर भगा दिया हो। उन में बड़ी आध्यात्मिकता है और नैतिक गुण तो ऐसा कौन सा है जो उन में नहीं है? स्वयं भगवान शिव ने मनुष्य को जो सत्य प्रदान किया है, उसे उन्हों ने पूरी तरह समझा है और उस के अनुसार व्यवहार किया है —

ममेति परमं दुःखं न ममेति परं सुखम्।

साधारण लोकाचार के अनुसार उन्हों ने संन्यास ग्रहण नहीं किया है, परंतु संसार भर में उन से बड़ा संन्यासी और दूसरा कोई नहीं है। उन्हों ने अपने जीवन में उस आदर्श स्थिति को प्राप्त कर लिया है जिस का भगवान कृष्ण ने उपदेश दिया है —

ज्ञेयस्स नित्य संन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वन्द्वोहि महाबाहो सुखं बंधात् प्रमुच्यते॥

उन्हें न कोई इच्छा है और न किसी के प्रति घृणा है। वास्तव में वे जीवनमुक्त हैं। उन्हों ने जीवन भर इस देश में स्थापित शासन-प्रणाली पर अनवरत रूप से आक्रमण किया है, परंतु जो लोग इस शासन-चक्र का संचालन करते हैं उन में किसी एक के भी प्रति कभी वैर-भाव नहीं रक्खा।

आत्मवत्सर्वभूतानि यः पश्यति स पश्यति।

निस्संदेह महात्मा गांधी की दृष्टि ऐसी ही है। उन पर समष्टि रूप से दृक्पात करने पर किसी भी भारतीय को यह समझने में संकोच करने की आवश्यकता नहीं है कि वे आज संसार के सब से महान पुरुष हैं। इस पतन के काल में भी परमात्मा ने भारत माता को गांधी जैसा पुत्र-रत्न प्रदान किया है। जिन लोगों के हृदय में ईश्वर के प्रति विश्वास है उन की दृष्टि में इस बात का यही अर्थ हो सकता है कि आज परिस्थिति चाहे कितनी ही निराशाजनक प्रतीत हो, परंतु ईश्वर की इच्छा यही है कि

ऋषि-मुनियों के इस पवित्र देश का भविष्य उस के गौरवमय भूत काल के अनुकूल ही होगा। गांधी और रवींद्र ने आज के भारत को भी सभ्य संसार में सम्मानित बना दिया है।

परंतु यह सब होते हुए भी श्री गांधी की राजनीतिज्ञ की हैसियत से क्या स्थिति है? मनुष्य पूर्णतः त्रुटिहीन अथवा भूल से परे नहीं होता। किसी भी तरह की त्रुटि से मुक्त होना और किसी भी तरह की भूल न कर सकना, यह तो परमात्मा का ही गुण है और शायद मनुष्य के रूप में अवतार धारण करने पर स्वयं परमात्मा भी त्रुटिहीन नहीं रह जाता। लॉर्ड ऐक्टन की भांति मेरा विश्वास है कि किसी भी मनुष्य के प्रति अंधभक्ति न रखनी चाहिए और मि० बर्ट्रांड रसैल के शब्दों में, किसी भी मनुष्य की बाबत यह सोचना कि उस से ग़लती हो ही नहीं सकती, ख़तरे से खाली नहीं है। इसलिए अगर कोई महात्मा गांधी की बाबत यह सोचे कि उन से भी ग़लती हो सकती है, तो इस का मतलब यह नहीं है कि उस के हृदय में उन के प्रति सम्मान की भावना में कोई कमी है। अगर गांधीजी राजनीति में भाग न लेते तो क्या उन की महानता और भी बढ़ जाती, इस काल्पनिक प्रश्न पर विचार करना बेकार की बात होगी। श्री गांधी का अध्ययन कर के मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूं कि जिन लोगों ने पिछले सौ वर्षों में भारत की राजनीतिक क्षेत्र में सेवा की है उन में वे सब से महान व्यक्ति हैं, परंतु देश के सब से अधिक बुद्धिमान राजनीतिक नेताओं में उन की गणना नहीं की जा सकती। उन की अनेक परस्पर-विरोधी बातों तथा भारी भूलों पर बिना पक्षपात के विचार कर के मैं तो इस निष्कर्ष पर पहुँचे बिना नहीं रह सकता कि उन की नीति का परिणाम भविष्य में चाहे कुछ भी निकले, वर्तमान में तो उस से हानि ही अधिक हुई है। दुर्भाग्य की बात यह है कि गांधीजी जैसे व्यक्ति के लिए राजनीति बड़ा उपयुक्त क्षेत्र नहीं है। मैं यहां राजनीतिक अस्त्र के रूप में अहिंसा की नैतिकता पर विचार नहीं करूँगा। यह मानी हुई बात

है कि भारत में संगठित ढंग से शासकों की शक्ति का शक्ति से विरोध कर सकने की क्षमता नहीं है। ऐसी हालत में वर्तमान समय में उस के लिए वैध आंदोलन के अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग ही नहीं रह जाता। मैं यह नहीं कहता कि किसी भी हालत में हमें किसी दूसरे मार्ग का अवलंबन करना ही न चाहिए। मेरी दृष्टि में तो प्रश्न केवल यह है कि परिस्थिति को देखते हुए जो ढंग उचित हो उसी का अनुसरण करना चाहिए। महात्मा गांधी ने यह प्रश्न किया है कि क्या इतिहास में इस बात का कोई दृष्टांत है कि किसी पराधीन जाति ने वैध आंदोलन द्वारा अपनी खोई हुई स्वतंत्रता पुनः प्राप्त कर ली हो। लेकिन उन से भी तो पूछा जा सकता है कि क्या उन के ढंग से किसी जाति ने स्वतंत्रता प्राप्त कर ली है? सुदूर भविष्य में क्या परिस्थिति होगी और उस समय क्या करना होगा, इस बात की चिंता करना राजनीतिज्ञों का कार्य नहीं है। हमारे सम्मुख जो परिस्थिति है उस का हमें सामना करना चाहिए, भविष्य के राजनीतिज्ञ भविष्य की समस्याओं को हल करेंगे। अगर मांटेगू सुधारों के श्रीगणेश के ठीक पहले महात्मा गांधी अपना असहयोग आंदोलन न चला देते तो भारत की पिछले पंद्रह वर्ष की राजनीति कुछ और ही हुई होती। उस हालत में भारत के राष्ट्रीय दल की एकता बनी रहती और सरकारी पदों पर से, कौंसिलों के अंदर से और लोकमत के द्वारा वह सरकार पर जितना प्रभाव डाल सकता उतना गांधीजी की नीति के फलस्वरूप फूट पड़ जाने के कारण नहीं पड़ सका है। अपने निष्क्रिय प्रतिरोध के सिद्धांत में महात्माजी दोनों शब्दों पर समान रूप से ज़ोर देते हैं, परंतु उन के बहुत से अनुयायियों का ध्यान प्रायः एक ही शब्द की ओर गया है। उन के सत्याग्रह आंदोलन ने हज़ारों कुटुंबों को दुखी बना दिया है। और इस सब त्याग तथा कष्ट-सहन ने देश को कहां पहुंचाया? स्वराज्य तक नहीं बल्कि फिर कौंसिलों में। महात्मा गांधी ने अपने जीवन भर अहिंसा का पालन किया है और उसी का उपदेश भी दिया है, और यह

ठीक भी है कि हिंसा से बढ़ कर और धर्म नहीं है, परंतु उन्हों जिन राजनीतिक ढंगों का प्रचार किया है उन के परिणाम-स्वरूप हिंसा बढ़ी है। जिस की शक्ति को समाप्त करने के लिए उन्हों ने जिस के विरुद्ध अपने ढंगों का व्यवहार किया है, उसी को उन्हों ने इस बात का अवसर दिया कि वह जनता की थोड़ी-बहुत नागरिक स्वाधीनता का भी अपहरण कर ले। बारह महीने में देश को स्वराज्य दिला देने का वादा करना, एक अलौकिक घटना का आश्वासन देना नहीं था तो और क्या था? परंतु अब अलौकिक घटनाओं का युग नहीं रह गया है। जिस ग़ुलामी की मनोवृत्ति की महात्मा गांधी ने निंदा की है, उसी के फल-स्वरूप हज़ारों-लाखों आदमियों ने बच्चों की भांति साल भर में स्वराज्य की बात पर विश्वास कर लिया। मेरा विश्वास है कि महात्मा गांधी आज भारत के ही नहीं, सारे संसार के सब से महान व्यक्ति हैं, परंतु उतना ही दृढ़ मेरा यह विश्वास है कि उन्हों ने राजनीति में भारी भूलें की हैं जिन से देश की भारी क्षति हुई है। हां, एक बात राजनीतिक क्षेत्र में भी उन के पक्ष में स्वीकार करनी पड़ेगी। उन के प्रचार के फल-स्वरूप जनता में जो जाग्रति उत्पन्न हो गई है, जो राष्ट्रीय भावना प्रबल हो गई है, जो त्याग तथा कष्ट-सहन की क्षमता आ गई है, जो साहस करने तथा उस का परिणाम सहन करने की भावना आ गई है—अगर गांधीजी का आगमन न हुआ होता, तो इन सब बातों के लिए अभी देश को काफ़ी समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ती। इस में संदेह की गुंजाइश नहीं कि यह राष्ट्रीय जाग्रति भविष्य में बड़ी उपयोगी सिद्ध होगी। श्री गांधी की राजनीति का कोई सच्चा आलोचक इस जाग्रति के लिए उन्हें अधिक से अधिक श्रेय देने में संकोच न करेगा। राजनीति क्षणस्थायी है, चरित्र चिरस्थायी। जब आज के वाद-विवाद भूली हुई बातें हो जायँगी तब भी मोहनदास करमचंद गांधी का नाम और चरित्र जीवित रहेंगे। गांधीजी मानव-चरित्र के सब से उच्च तथा कठिन गुणों की साकार मूर्ति हैं और भारतीय इतिहास में उन का

नाम सुवर्णाक्षरों में देदीप्यमान रहेगा। हम सब के लिए यह अत्यंत गर्व तथा सौभाग्य का विषय होना चाहिए कि हमें ऐसे विरले व्यक्ति के देशवासी होने का अवसर प्राप्त हुआ है।

इस समय के सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं में सर शिवास्वामी ऐयर को मैं गांधीजी तथा मालवीयजी के अतिरिक्त और किसी से भी नीचा स्थान नहीं दूंगा। उन का चरित्र, उन की योग्यता, उन की विद्वत्ता, उन की विस्तृत जानकारी और उन की असाधारण बुद्धिमत्ता, ये सब ऐसी राष्ट्रीय संपत्ति हैं जिन का संसार के किसी भी देश में सम्मान होना लाज़िमी था। हमारे देश में कोई दूसरा व्यक्ति ऐसा नहीं है जो विचारशीलता में उन से बढ़ कर हो।

सर शिवास्वामी ऐयर

महामान्य श्रीनिवास शास्त्री भारत-सेवक समिति में श्री गोखले के उत्तराधिकारी हैं और अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। विद्वान तथा शिक्षाविद् होने के अतिरिक्त, उन की असाधारण वक्तृत्व-शक्ति की बड़ी प्रशंसा हुई है। वे सच्चे तथा निस्स्वार्थ कार्यकर्त्ता हैं और उन से घोर मतभेद रखनेवालों ने भी उन की देशभक्ति की पवित्रता को स्वीकार किया है।

श्री श्रीनिवास शास्त्री

इन्हीं सज्जनों के राजनीतिक दल के एक अन्य व्यक्ति ने भी देश का बड़ा कार्य किया है। सर रामचंद्र राव जिस किसी भी कार्य को हाथ में लेते हैं, उसी का पूर्णता के साथ संपादन करने की भरसक चेष्टा करते हैं। अपने कार्य-विषयक छोटी से छोटी बातों की भी उन जैसी पूरी-पूरी जानकारी मैं ने वर्तमान समय के किसी दूसरे व्यक्ति में नहीं देखी है।[1] सर सी० पी० रामास्वामी ऐयर की असाधारण योग्यता ने मि० मांटेगू का भी ध्यान आकृष्ट किया था। मिस्टर जी० ए० नटेसन ने पत्रकार तथा सार्वजनिक

मद्रास के अन्य कार्यकर्त्ता

[1] सर रामचंद्र राव अब इस लोक में नहीं रहे।

कार्यकर्ता दोनों ही के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त की है। मद्रास के कांग्रेसी नेताओं में प्रथम स्थान में श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य को दूंगा। बुद्धि की प्रखरता में तो श्री श्रीनिवास ऐयंगर पिछले दशक के मद्रासी कांग्रेस-वादियों में सर्वश्रेष्ठ हैं। अगर इस के साथ ही उन में स्थिरता की मात्रा कुछ अधिक होती, तो वे देश की भारी सेवा कर सके होते। मि० कोंडा वैंकटापैया पंतूलू एक निर्भीक तथा निस्स्वार्थ देशभक्त हैं जिन्हें आंध्र के सार्वजनिक कार्यकर्ताओं में प्रायः प्रथम स्थान दिया जाता है और यह उचित ही है।

श्रीमती नायडू

श्रीमती सरोजिनी नायडू जन्म से तो बंगाली हैं और विवाह से दक्षिणी, परंतु उन के राजनीतिक कार्य का केंद्र बंबई रहा है। कविता के क्षेत्र में उन्हों ने अच्छी ख्याति प्राप्त कर ली थी, परंतु जो प्रतिभा कविता के लिए थी उस का उन्हों ने राजनीति में भी उपयोग किया है और इधर भी इतनी सफलता प्राप्त की है कि वे कांग्रेस की अध्यक्ष हो चुकी हैं। उन का व्यक्तित्व आकर्षक है और अंग्रेज़ी भाषा पर उन्हें आश्चर्यजनक अधिकार प्राप्त है। आज के भारत में उन की सर्वश्रेष्ठ वक्ताओं में गणना है, लेकिन वार्तालाप में वे भाषण-कला से भी अधिक पटु हैं। इस कला में जहां तक मुझे जानकारी है, जीवित भारतवासियों में कोई उन का समकक्ष नहीं है।

मि० जिन्ना

मि० मुहम्मद अली जिन्ना प्रथम कोटि के विवाद-पटु हैं। निर्भीकता उन का ऐसा गुण है जो कभी उन का साथ नहीं छोड़ता। मेरा विचार है कि ऐसा कोई व्यक्ति नहीं, चाहे उस की स्थिति कितनी ही ऊंची रही हो, जिस के सामने मिस्टर जिन्ना को अपनी बात स्पष्टतापूर्वक तथा निर्भीकतापूर्ण ढंग से कह देने में कभी संकोच हुआ हो। अब अगर वे पहले की अपेक्षा राष्ट्रवादी के रूप में कम दिखाई पड़ते हैं और संप्रदायवादी के रूप में अधिक, तो यह परिवर्तन देश के लिए दुर्भाग्य का ही विषय है।

डा० रघुनाथ पुरुषोत्तम परांजपे सार्वजनिक जीवन में बड़े ही खरे

डा० परांजपे

आदमी हैं। उन के यहां बनावट या घुमा-फिरा कर बात करने के लिए स्थान नहीं है। सन् १९२४ में उन्हों ने लखनऊ में लिबरल फ़ेडरेशन के अध्यक्ष-पद से जो भाषण किया था, उस के संबंध में कुछ मित्रों ने यह राय ज़ाहिर की थी कि कांग्रेस की नीति तथा उस के नेताओं की ऐसी खरी आलोचना समयानुकूल नहीं थी। अपनी सफ़ाई देते हुए उन्हों ने जो कुछ कहा था, उस से उन के स्वभाव पर यथेष्ट प्रकाश पड़ जाता है। उन्हों ने कहा था :—

हाल में मुझ पर यह आक्षेप किया गया है कि मैं मुहँफट हूं और मैं सचाई के साथ स्वीकार कर लेना चाहता हूं कि यह आक्षेप ठीक ही है। मैं जीवन भर अध्यापक रहा हूं और वह भी गणित का। गणित-शास्त्र के अध्यापक के लिए अस्पष्ट भाषा का व्यवहार करना संभव नहीं है। उस का तो सब से बड़ा कर्तव्य अधिक से अधिक स्पष्टता लाना है, और अब मैं अपनी जन्म भर की आदत को नहीं बदल सकता।...हम ने अक्सर अपने देश में देखा है कि हम ने अपने मतभेदों को छिपाने के लिए अक्सर ऐसे वाक्य गढ़ने की कोशिश की है जिन से क्षण भर के लिए तो समझौता हो गया है और वर्ष का बाक़ी समय विभिन्न लोगों ने उस के अपने-अपने विचारों के अनुकूल विभिन्न अर्थ लगाने में व्यतीत किया है। मुझे इस तरह की बातों में विश्वास नहीं है। मैं तो स्पष्ट तथा खरी बात पसंद करूंगा।

यहां यह कह देना अप्रासंगिक न होगा कि डा० रवींद्रनाथ ठाकुर भी इस प्रकार के दोमानी समझौतों के प्रति ऐसा ही अविश्वास प्रकट कर चुके हैं। डा० परांजपे के सार्वजनिक जीवन पर जिन दो व्यक्तियों का सब से अधिक प्रभाव पड़ा है, उन में एक तो उन के शिक्षक श्री गोखले थे और दूसरे श्री कार्वे हैं, जिन्हों ने भारतीय महिला-विश्वविद्यालय की स्थापना की है और जो डा० परांजपे के निकट संबंधी भी हैं।

श्री विट्ठलभाई पटेल स्वतंत्रता-संग्राम के एक वीर सैनिक थे। उन के छोटे भाई श्री वल्लभभाई पटेल गुजरात के किसानों के प्रति की गई अपनी सेवाओं के कारण सरदार कहलाते हैं। लोगों का विश्वास है कि वे महात्मा गांधी के दक्षिण हस्त हैं। श्री नृसिंह चिंतामणि केलकर तिलक-दल के एक परम अनुभवी और पुराने कार्यकर्ता हैं। श्री एम० आर० जयकर को देश ने पहले होमरूल लीग के सदस्य के रूप में जाना और फिर असहयोगी के रूप में। बाद को वे "प्रति-सहयोगी" दल में सम्मिलित हो गए। लिबरल पार्टी में वे कभी नहीं रहे, परंतु आजकल उन के विचार लिबरलों की भी अपेक्षा अधिक नरम हैं। उन की योग्यता तथा भाषण-शक्ति निस्संदेह प्रशंसनीय हैं। हिज़ हाइनैस आग़ा ख़ां बड़े बुद्धिमान राजनीतिज्ञ हैं। उन्हों ने अपनी योग्यता का जो उपयोग अपनी जाति के लिए किया है, वही अगर अपने देश के लिए किया होता, तो वे अखिल-भारतीय नेता के रूप में मान्य हो गए होते।

बंबई के अन्य कार्यकर्ता

बंगाल के प्रमुख राजनीतिक कार्यकर्ता चित्तरंजन दास थे। सर जार्ज जैसैल ने अपने संबंध में कहा था कि "चाहे मेरा विचार ठीक हो, चाहे ग़लत, परंतु मुझे संशय अथवा संदेह नहीं है।" यही बात श्री दास की बाबत भी कही जा सकती है। त्याग से वे तनिक भी नहीं हिचकते थे, उन के लिए तो मुख्य बात यह थी कि जो भी उन की इच्छा हो, वह हो जाय। चाहे जैसे हो और चाहे जो मूल्य देना पड़े, किंतु वह होनी अवश्य चाहिए। सार्वजनिक जीवन में सक्रिय रूप से भाग लेने का अवसर उन्हें थोड़े ही वर्षों के लिए मिला, परंतु उतने समय के लिए उन का बंगाल की राजनीति में ऐसा आधिपत्य हो गया था जैसा उन के बाद फिर किसी का नहीं हुआ। उन का प्रभाव इतना अधिक था कि उस की उपेक्षा कर सकना किसी के भी लिए संभव नहीं था।

चित्तरंजन दास

बंगाल के अन्य सार्वजनिक कार्यकर्ताओं में कांग्रेसवादियों में से स्वर्गीय श्री जतींद्र मोहन सेन-गुप्त तथा श्री सुभाषचंद्र बोस और लिबरलों में से सर प्रभाषचंद्र मित्र तथा श्री जे० एन० वसु के नाम उल्लेखनीय हैं। एक नाम और भी उल्लेखनीय है। सर अब्दुर रहीम ने उच्च सरकारी नौकरियों संबंधी रॉयल कमीशन (इसलिंगटन कमीशन) के सदस्य की हैसियत से जो रिपोर्ट लिखी थी, उस की बड़ी प्रशंसा हुई थी। उस से जैसा उन की योग्यता का परिचय मिला वैसा ही उन की देशभक्ति का। वे सार्वजनिक जीवन में काफ़ी प्रमुख रूप से भाग लेते रहे हैं। अगर उन में राष्ट्रीयता की भावना कुछ और भी अधिक होती, तो कितना अच्छा होता!

बंगाल के अन्य कार्यकर्ता

इस समय संयुक्त प्रांत के सब से बड़े कांग्रेसी नेता पंडित मोतीलाल नेहरू थे। अपने जीवन के अधिकांश भाग में वे ब्रिटिश चरित्र तथा रहन-सहन के अंग्रेज़ी ढंग के बड़े प्रशंसक रहे थे। सार्वजनिक जीवन में प्रथम बार वे ४६ वर्ष की अवस्था में प्रथम संयुक्त प्रांतीय राजनीतिक कान्फ़रेंस के अध्यक्ष के रूप में आए थे। तीन वर्ष बाद वे प्रांतीय कौंसिल के सदस्य हो गए। परंतु राजनीति में उत्साह-पूर्वक भाग लेना उन्हों ने सन् १९१७ में शुरू किया था जब कि उन की अवस्था ५६ वर्ष की हो चुकी थी। उस समय तक उन के विचार बड़े नरम थे। परंतु उन विचारों से हटते ही उन के विचारों में बड़ी शीघ्रता से उग्रता आती गई। गांधी युग के कांग्रेसी नेताओं में उन का स्थान महात्मा गांधी से ही नीचे था और चित्तरंजन दास के समकक्ष था। बुद्धि की प्रखरता में तो वे इन दोनों से भी बढ़े हुए थे। १९३१ में स्वर्गवास होने से पहले के दस वर्षों में वे कांग्रेस के मस्तिष्क थे। और इस बीच उन्हों ने कभी किसी प्रकार के त्याग में मुँह नहीं मोड़ा। जिस प्रकार का जीवन उन्हों ने बिताया था, उसे देखते हुए उन्हें जेल का जीवन अवश्य कष्टकर हुआ होगा, परंतु उन्हों ने उस की भी चिंता नहीं की। उन में

मोतीलाल नेहरू

क़ायदे से काम करने की आदत थी, उन की बुद्धि बड़ी प्रखर थी और उन में अपने ध्येय के लिए लगन थी। उन के स्वर्गवास से संयुक्त प्रांत तथा भारत की भारी हानि हुई है।

सर तेज-बहादुर सप्रू

सर तेजबहादुर सप्रू दूसरी तरह के व्यक्ति हैं। प्रतिष्ठापूर्ण छात्र जीवन समाप्त कर के उन्हों ने वकालत शुरू की और वे इलाहाबाद हाईकोर्ट के चोटी के वकील हैं। अपने कॉलेज के दिनों में ही उन्हें सार्वजनिक प्रश्नों के प्रति अनुराग उत्पन्न हो गया था और जब उन की छोटे वकीलों में ही गिनती थी तभी से वे सार्वजनिक जीवन में भाग लेने लगे हैं। राजनीतिज्ञ की हैसियत से उन्हों ने सरकारी पद पर रह कर भी प्रतिष्ठा प्राप्त की है और सरकार के आलोचक रह कर भी। अपनी योग्यता के कारण उन्हों ने इंगलैंड में भी उच्च कोटि की ख्याति प्राप्त कर ली है और वहां के कुछ प्रमुख राजनीतिज्ञ उन के मित्र तथा प्रशंसक हैं। उन्हों ने सदा जो कुछ भी किया, प्रशंसनीय ढंग से किया है। लिबरल पार्टी के वे अत्यंत प्रमुख नेता थे। कुछ समय से उन के तथा अन्य लिबरलों के बीच कुछ मतभेद उत्पन्न हो गया है, परंतु इस से उन की अद्भुत योग्यता तथा महान सेवाओं में कोई अंतर नहीं पड़ सकता। वे सच्चे मित्र हैं और उदार हृदय हैं। उन में बहुत से ऐसे गुण हैं जिन की बदौलत उन के संपर्क में आनेवाला व्यक्ति उन से प्रेम किए बिना नहीं रह सकता।

श्री कुंज़रू

मैं पंडित अयोध्यानाथ के प्रसंग में उन के सुपुत्र पंडित हृदयनाथ कुंज़रू का उल्लेख कर चुका हूं। वे सच्चे देशभक्त हैं और उन का रोम-रोम देशभक्ति से पूर्ण है। वे अपना सारा समय राजनीति, शिक्षा तथा समाज-सेवा के क्षेत्रों में देश के कार्य में लगाते हैं। व्यापक तथा विस्तृत अध्ययन के साथ उन के पास शक्तिशाली मस्तिष्क तथा अथक परिश्रम का गुण है। उन का चरित्र बड़ी उच्च कोटि का है।

पंडित मोतीलाल नेहरू देश को अपने पुत्र के रूप में पंडित ज़वाहरलाल

जवाहरलाल नेहरू

नेहरू को दे गए हैं। विलायत में शिक्षा प्राप्त कर के वे बैरिस्टर बन कर स्वदेश को लौटे, परंतु वकालत के प्रति उन की रुचि कभी नहीं हुई। वे शीघ्र ही सार्वजनिक जीवन में आ गए और एक बार उस में आ जाने के बाद फिर उन्हों ने किसी अन्य बात की चिंता नहीं की। उन के विचार तथा उन की भाषा में स्पष्टता है, उन के राजनीतिक मतों में उग्रता है, उन की कार्य-पद्धति में निश्चयात्मकता है और उन के स्वभाव में परिणाम के प्रति निर्भीकता है। वे चाहते तो सुख और विलास का जीवन विता सकते थे, परंतु अपने देश की ख़ातिर उन्हों ने उस की सेवा में कष्ट तथा कठिनाई का जीवन व्यतीत किया है। जिन का उन से मतभेद है, वे भी उन के समर्थकों की ही भांति उन के प्रशंसक हैं।

संयुक्त प्रांत के एक अन्य व्यक्ति जो सम्मानपूर्ण उल्लेख के अधिकारी हैं, बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन हैं। धनी न होते हुए भी, उन्हों ने वकालत छोड़ दी और अब वर्षों से केवल सार्वजनिक कार्य में ही लगे हुए हैं। वे साहसी तथा सच्चे व्यक्ति हैं और त्याग तथा कष्ट-सहन तो मानो उन के स्वभाव के अंग हो गए हैं।

कांग्रेस के वर्तमान अध्यक्ष बाबू राजेंद्रप्रसाद की सज्जनता, सच्चाई,

राजेंद्र बाबू

ईमानदारी और निस्स्वार्थता सभी ऐसी उच्च कोटि की हैं कि सभी उन का सम्मान करते हैं। बिहार के एक और उल्लेखनीय कार्यकर्ता श्री सच्चिदानंद सिनहा हैं जो पुराने समय में

श्री सिनहा

कांग्रेसवादी थे और अब किसी दल विशेष से संबद्ध न हो कर राष्ट्रवादी भर हैं। वे प्रायः चालीस वर्ष से सार्वजनिक जीवन में हैं और अपने प्रांत तथा देश की उन्हों ने अच्छी सेवा की है। वे वकील हैं, पत्रकार हैं, राजनीतिज्ञ हैं और भाषण तथा विवाद दोनों ही में कुशल हैं।

प्रसिद्ध इमाम बंधुओं—सर अली इमाम तथा हसन इमाम—का इसी समय में स्वर्गवास हुआ। अपने समय में उन्हों ने अच्छा काम किया था। कांग्रेस के दो अन्य उल्लेखनीय नेता डा० अनसारी[1] और मौलाना अबुलकलाम आज़ाद हैं। दोनों कांग्रेस के अध्यक्ष पद को सुशोभित कर चुके हैं। मौलाना आज़ाद उर्दू के बड़े सुन्दर वक्ता हैं। मध्य प्रांत के सर मोरोपंत जोशी लिबरल पार्टी के नेताओं में हैं। उन्हें सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किए ४८ वर्ष हो चुके हैं। अन्य लिबरलों की भांति सन् १६१८ तक वे भी कांग्रेसी थे। अली बंधुओं का स्थान निश्चित करना कुछ कठिन है। दोनों के बीच मि० मुहम्मद अली अधिक योग्य थे और मौलाना शौकत अली का व्यक्तित्व संभवतः अधिक प्रभावजनक है। [1]सर मुहम्मद शफ़ी पंजाब के सब से प्रमुख सार्वजनिक कार्यकर्त्ता थे।

अन्य कार्यकर्ता

रवींद्रनाथ ठाकुर का नाम मैं ने अंत के लिए रख छोड़ा है क्योंकि वे राजनीति में नहीं हैं। वे बंगाल के सुपुत्र हैं, परंतु सारे भारत को उन पर गर्व है और विश्व-ख्याति में वे महात्मा गांधी के समकक्ष हैं। रवींद्रनाथ महान कवि तथा भारतीय राष्ट्रीयता के अग्रदूत हैं। अपनी यूरोप-यात्रा में मैं ने इंगलैंड, फ्रांस, जर्मनी या बेलजियम के जो रेलवे स्टेशन देखे उन पर पुस्तकों की कोई ऐसी दूकान नहीं देखी जिस पर रवींद्रनाथ की रचनाओं के वहां की भाषा में अनुवाद न मिल सकते हों। पेरिस से वरसाई तक मेरे एक सहयात्री नार्वे-निवासी सज्जन थे। उन्हों ने मुझे बताया कि उन के देश में 'टगोर' के नाम से प्रायः सभी परिचित हैं तथा यह कि वे स्वयं अपनी मातृभाषा के अनुवादों द्वारा रवींद्रनाथ की प्रायः सभी महत्वपूर्ण रचनाएं पढ़ चुके थे। उन्हों ने यह भी कहा कि भारत-निवासी संसार के सब से अधिक

रवींद्रनाथ

---

[1] डा० अनसारी तथा मौलाना शौकत अली का अब स्वर्गवास हो चुका है।

शिक्षित लोगों में होंगे। जब मैं ने उन से कहा कि हमारे देश में तो अशिक्षा तथा निरक्षरता का साम्राज्य है, तो उन्हों ने चौंक कर कहा— "क्या! टगोर के देशवासी निरक्षर! विश्वास नहीं होता।" हमें परमात्मा का हृदय से कृतज्ञ होना चाहिए कि उस ने हमें गांधी और रवींद्र जैसे देशवासी प्रदान किए हैं।

पंचम परिच्छेद

उपसंहार

संतोष तथा निराशा

सिपाही विद्रोह को हुए ७८ वर्ष बीत चुके। इस बीच भारतीय राजनीति में जो चढ़ाव-उतार आए, सार्वजनिक जीवन की जिस प्रकार पुष्टि हुई और विचारों तथा संस्थाओं का जिस प्रकार विकास हुआ, इस का मैं ने पिछले परिच्छेदों में सिंहावलोकन करने की चेष्टा की है। भारत के इस काल के राजनीतिक इतिहास के अध्ययन से हम किन परिणामों पर पहुँचते हैं ? पहली बात तो यह कही जा सकती है कि शिक्षित भारत के दिमाग़ में उन्नति का विचार दृढ़तापूर्वक जम गया है। इस बीच बहुसंख्यक व्यक्तियों ने लोक-सेवा की भावना से प्रेरित हो कर राजनीतिक उन्नति के लिए संगठित प्रयत्न किए हैं। जनता की अवस्था सुधारने के अतिरिक्त भारतीय देशभक्तों का उद्देश्य रहा है मातृभूमि के लिए स्वराज्य के द्वारा उस स्वतंत्रता की प्राप्ति जो किसी भी अन्य वस्तु की अपेक्षा अधिक बहुमूल्य है। बिना इस के मातृभूमि के सम्मान की रक्षा नहीं हो सकती। लॉर्ड रोज़बरी ने तो देशभक्ति की परिभाषा ही "जाति का आत्म-सम्मान" कह कर की है। अब प्रश्न यह उठता है कि यह प्रयत्न ठीक ढङ्ग पर किया गया या नहीं ?

जो ढंग सोचा गया वह ठीक था या नहीं और उस को समझदारी के साथ बरता गया या नहीं ? और इतनी अच्छी नीयत से और इतना त्याग कर के जो कार्य किया गया, उस में सफलता कितनी हुई ? इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए परिस्थिति की जांच करने की कई कसौटियां हो सकती हैं। सार्वजनिक कार्यकर्ताओं के कार्य के फल-स्वरूप लोक-सेवा की भावना का अधिकाधिक व्यक्तियों में उदय हो सका है या नहीं ? शिकायतों को दूर कराने में उन्हें कितनी सफलता प्राप्त हो सकी है ? और उन्हों ने अपने सम्मुख जो ध्येय रक्खा था वह अभी कितनी दूर है ? कार्य प्रारंभ करते समय वह जितनी दूर था, उस दूरी में कुछ कमी भी हुई है या नहीं ? इन प्रश्नों का उत्तर देते समय उस कार्य से संतोष ग्रहण किया जा सकता है जो कि अब तक हो चुका है। इसी प्रकार इस बात से निराशा भी होगी ही कि एक शताब्दी के तीन चरण से अधिक समय के कार्य के बाद भी अभी इतना मार्ग चलने को बाक़ी है और शायद अब तक जितना मार्ग तै हो चुका है उस की अपेक्षा बाक़ी मार्ग अधिक कठिन भी है। अब तक जितना कार्य हो चुका है उस का जोखा बहुत कुछ तख़मीना लगानेवाले की मनोवृत्ति पर भी निर्भर करेगा। मुझे स्मरण है कि सन् १८६४ में श्री रानाडे ने मद्रास में भाषण करते हुए इस बात पर संतोष प्रकट किया था कि समाज-सुधार के क्षेत्र में इतना काफ़ी काम हो चुका है और उसी अवसर पर सभा के अध्यक्ष, डा० (बाद को सर रामकृष्ण) भांडारकर ने उन्हीं बातों के आधार पर यह कह कर बड़ी निराशा प्रकट की थी कि अभी कितना कम काम हुआ है। इसलिए मैं यही कहूंगा कि ठीक निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए समस्त दृष्टिकोणों को ध्यान में रखना आवश्यक है। न तो यह होना चाहिए कि सफलताओं का महत्व बढ़ाने के लिए हम असफलताओं की ओर से आंखें बंद कर लें, और न यही होना चाहिए कि अवशेष कार्य की विशालता से हम इतने हतोत्साह हो जायँ कि जो कुछ हो चुका है उसे नगण्य मान बैठें। केवल आशावादिता

अथवा निराशावादिता के आधार पर किसी प्रश्न का निर्णय नहीं किया जा सकता। ऐसे भी लोग होते हैं जो अपनी प्रबल आशावादिता के कारण वास्तविक परिस्थिति की ओर से आंखें बंद कर सकते हैं और, लॉर्ड मॉर्ले के शब्दों में, आंधी और ज़ोरों के मेंह को सुंदर मौसम कह सकते हैं। और दूसरी ओर ऐसे लोगों का भी अभाव नहीं है जो सूर्य की इसलिए निंदा कर सकते हैं कि ज्योतिषियों के कथनानुसार उस में धब्बे हैं।

दो प्रश्न

मुख्य प्रश्न दो हैं—जनता ने सार्वजनिक जीवन के संगठन में तथा लोक-सेवा की भावना के विस्तार में कितनी उन्नति की है? और सरकार ने अपने को स्वेच्छाचारी, नौकरशाही और ग़ैर-ज़िम्मेदार सरकार से बदल कर लोकमत के अनुकूल तथा उत्तर-दायित्वपूर्ण या जनता की सरकार बना लेने में कितनी तत्परता प्रदर्शित की है? जनता के हित के लिए शासन-प्रणाली में जिन सुधारों की आवश्यकता थी, वे कहां तक स्वीकार हो चुके हैं? जनता की आर्थिक अवस्था सुधरी है या उलटी और भी बिगड़ गई है? क्या जनता में शिक्षा का काफ़ी प्रचार हो गया है? सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिए तथा राष्ट्रीय एकता को बढ़ाने के लिए समाज-सुधार की कितनी प्रगति हो चुकी है?

सार्वजनिक जीवन

पहले प्रश्न का उत्तर दे सकना तो काफ़ी आसान है। सार्वजनिक जीवन के संगठन में तथा जनता में लोक-सेवा की भावना उत्पन्न करने में इतनी काफ़ी उन्नति हो चुकी है कि हमारे प्रारंभिक कार्यकर्ताओं को जिन परिस्थितियों में कार्य करना पड़ा था उन की आज की परिस्थितियों से तुलना ही नहीं की जा सकती। उस समय संगठन कही जा सकने योग्य किसी वस्तु का अस्तित्व भी नहीं था। देश-सेवा की भावना यत्र-तत्र कतिपय व्यक्तियों तक ही सीमित थी। यह उन के लिए गौरव का विषय है कि उस समय की निराशाजनक परि-

स्थिति से भयभीत न हो कर उन्हों ने कार्य का श्रीगणेश किया और उसे इतनी अच्छी तरह निभाया कि उन्हों ने सार्वजनिक जीवन की जो नींव रक्खी थी उस पर आज ऐसा विशाल भवन खड़ा हो गया है जिसे देख कर कोई भारतीय लज्जा का अनुभव नहीं कर सकता। पहले यत्र-तत्र बिखरे हुए इक्का-दुक्का कार्यकर्ता थे, फिर स्थानीय संस्थाएं बनीं, फिर प्रांतीय संस्थाएं क़ायम हुईं और अंत में अखिल-भारतीय संस्थाएं। अखिल-भारतीय संस्थाओं में इंडियन नेशनल कांग्रेस सब से पुरानी है और निस्संदेह सब से अधिक महत्वपूर्ण भी है। १८९१ में नागपुर की कांग्रेस में भाषण करते हुए, मि० ह्यूम ने इस बात पर प्रसन्नता प्रकट की थी कि उस के सातवें अधिवेशन का समय आ गया है। अपने जीवन के बीस वर्ष पूरे कर लेने के बाद कांग्रेस को संकट का सामना करना पड़ा और उस के बाईसवें अधिवेशन के अवसर पर इतना उपद्रव मचा कि अधिवेशन ही न हो सका। परंतु फ़ौरन ही उस का पुनःसंगठन हो गया और वह अपना कार्य जारी रख सकी। दस वर्ष बाद वह दूसरे लोगों के हाथों में चली गई और उस की नीति में परिवर्तन हो गया। कांग्रेस के जन्मदाताओं में से अब केवल एक सज्जन जीवित हैं[1] और उस के प्रारंभिक कार्यकर्ताओं में से भी थोड़े ही से शेष हैं। उस के पुराने कार्यकर्ताओं में से बहुतों को उस से इस कारण संबंध-विच्छेद कर लेना पड़ा है कि वे उस की पुरानी नीति तथा उस के पुराने सिद्धांतों को छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे। कांग्रेसवादी के पुराने अर्थ में तो भारत के सभी राष्ट्रवादी अब भी कांग्रेसवादी हैं, परंतु कांग्रेस में जो भारी परिवर्तन हो गए हैं, उन के कारण उन में से बहुत से न तो उस के सदस्य हैं न हो ही सकते हैं। देश में आज सार्वजनिक जीवन की जो स्थिति है, वह कांग्रेस के जन्मदाताओं की सब से महान विजय है। देश आंदोलन से परिपूर्ण है, जो

[1] सर दिनशा वाछा। लेकिन अब वे भी नहीं रहे।

जीवन का ही दूसरा नाम है। आशा ही जीवन है, और उद्योग ही आशा है। जो भी कार्य बिना स्वार्थ के और त्याग की भावना से किया जायगा, वह न्यायी तथा दयालु परमपिता के विधान में अवश्य सफलता प्राप्त करेगा, चाहे सफलता प्राप्त होने में समय कितना ही लगे।

आज के कांग्रेसवादियों का उन से भिन्न मत रखने वालों के प्रति जो भाव है, उसे देखकर मुझे जे० ए० स्पेंडर की वह बात दोहराने की इच्छा होती है जो उन्हों ने इंगलैंड के मज़दूर दल की अन्य राजनीतिक दलों से तुलना करते हुए कही थी :—

कांग्रेस तथा अन्य दल

पुराने राजनीतिक दलों में एक दूसरे के प्रति सहनशीलता का भाव आ गया था। शांतिपूर्ण अवसरों पर वे एक दूसरे की अच्छी बातों को भी स्वीकार कर लेते थे और इस संभावना को भी मान लेते थे कि शायद उन से भी ग़लतियां हुई हों। लेकिन मज़दूर दल इस तरह की किसी कमज़ोरी को अपने पास नहीं फटकने देता। उस की स्थिति उस धार्मिक संप्रदाय की भांति है जो अपने को सब बातों में ठीक और दूसरों को सब बातों में पथ-भ्रष्ट समझता है, जो अपने अनुयायियों से पूर्ण आज्ञाकारिता चाहता है और उन्हें अन्य संप्रदायवालों के संसर्ग में भी नहीं आने देना चाहता। उसे यह निश्चय करने में भले ही कठिनाई हो कि किसी प्रश्न विशेष के संबंध में उस का सिद्धांत क्या है, परंतु उसे इस बात में संदेह नहीं हो सकता कि उसी का सिद्धांत ठीक होगा।

मि० बर्ट्रांड रसैल ने लिखा है :—

जब कोई व्यक्ति अपनी सारी शक्ति किसी एक निश्चित उद्देश्य की पूर्ति में लगा देता है, तो इस का परिणाम प्रायः यह होता है कि वह विभिन्न बातों को उन का समुचित महत्व नहीं दे पाता और किसी न किसी रूप में उसे कोई मानसिक विकार भी हो जाता है।

शायद इस संसार में बहुसंख्यक लोग बिना काफ़ी विचार किए कार्य करने के लिए तैयार रहते हैं। इतना ही नहीं, जिन अवसरों पर बुद्धिमत्ता का तक़ाज़ा कुछ न करने का होता है, उन अवसरों पर भी वे कुछ न कुछ करना ही चाहते हैं।......हैमलेट का उदाहरण अक्सर इस बात के लिए पेश किया जाता है कि जो आदमी केवल सोचता रहता है, कुछ कार्य नहीं करता, उस का कैसा बुरा परिणाम होता है। परंतु कोई ओथैलो का उदाहरण इस बात के लिए पेश नहीं करता कि कि बिना विचार के कार्य करने का परिणाम कितना भयंकर होता है। मेरा अपना विचार तो यह है कि संसार की समस्याओं तथा मानव जाति के भविष्य को ध्यान में रख कर जो कार्य-क्रम स्थिर किया जायगा, वही सर्वश्रेष्ठ होगा। अपनी ही बात को सब से अधिक महत्व देने की प्रवृत्ति तथा उत्तेजनापूर्ण भावनाओं के आधार पर निश्चित हुआ कार्य श्रेष्ठ नहीं हो सकता। ...... इस समय संसार में चारों ओर ऐसे समुदाय दृष्टिगोचर हो रहे हैं जो मानव जीवन पर समष्टि रूप से दृष्टिपात नहीं कर सकते और जो अपनी बात से रत्ती भर भी हटने के बजाय मानव सभ्यता को नष्ट कर देना पसंद करेंगे।

व्यक्तिगत हो चाहे सार्वजनिक, आपत्ति पर इच्छा-शक्ति तथा बुद्धिमत्ता के सहयोग से ही विजय प्राप्त की जा सकती है। इच्छा-शक्ति का कार्य तो यह है कि वह बुराई की ओर से न आँखें बंद करना चाहती है और न उस के अवास्तविक इलाज से संतुष्ट होती है। बुद्धिमत्ता का कार्य यह है कि वह बुराई को समझने की कोशिश करती है, उस का इलाज सोचने की कोशिश करती है और अगर वह लाइलाज हो तो उस की अनिवार्यता तथा उसके अतिरिक्त संसार को अन्य बातों की विशालता पर विचार कर के उसे सह्य बनाने की कोशिश करती है।

अपनी निजी तथा छोटी भावनाओं को दबा कर व्यापक भावनाओं तथा बड़ी बातों पर विचार करने से ही बुद्धिमत्ता का उदय होता है।

जिस प्रणाली को चालू रखने के लिए मनुष्य की असाधारण शक्तियों की आवश्यकता पड़ती है, वह साधारणतः सफल नहीं होती। अगर उस की सफलता के कहीं कुछ उदाहरण मिल जायँ, तो वे अपवाद-स्वरूप हैं और उन से वह प्रणाली बुरी होने की बात नहीं कट जाती।

जो लोग आज आगे बढ़ने के लिए उतावले जैसे हो रहे हैं उन का अपने उन साथियों से नाराज़ होना, जो देशभक्ति के ही कारण इतनी तेज़ी से या इतना अधिक आगे बढ़ने को तैयार नहीं हैं, अनुचित है और अदूरदर्शिता तथा अविचारशीलता का परिणाम है। वे उन लोगों की जो सत्याग्रह के बजाय वैध मार्ग में विश्वास रखते हैं, नीयत में संदेह करते हैं और यह विचार करना नहीं चाहते कि उन्हों ने देश का कितने समय तक, कितना और कैसा कार्य किया है। वे इस तरह बात करते हैं जैसे महात्मा गांधी के उदय के पूर्व केवल घोर अंधकार ही रहा हो और जैसे उन्हों ने नास्ति से अस्ति का, मृत्यु से जीवन का सृजन किया हो। गांधी जी के पहले के सार्वजनिक जीवन की तनिक सी जानकारी भी इस तरह की बात का पूरा-पूरा खंडन कर देने के लिए काफ़ी है। वर्तमान भूतकाल की देन है और उस के बिना असंभव था। अगर ह्यूम तथा नौरोजी जैसे व्यक्ति न होते तो कांग्रेस का अस्तित्व भी न होता। महात्मा गांधी को बनी-बनाई राष्ट्रीय संस्था मिल गई जिसे उन्हों ने आसानी से अपने मन के मुताबिक़ चला लिया क्योंकि परिस्थिति उन के अनुकूल थी। बात यह नहीं थी कि उन्हों ने कहा कि "प्रकाश हो और प्रकाश हो गया"। अगर रानाडे और मेहता, सुरेंद्रनाथ और तिलक, गोखले और मालवीय न होते, तो गांधी को अधिकार कर लेने के लिए कांग्रेस न मिल जाती। सार्वजनिक कार्यकर्ताओं के लिए यह आवश्यक है कि वे इतिहास का कुछ सम्मान करना सीखें। आज का साधारण कांग्रेसवादी उन लोगों को बुरा-भला कहने में, जो महात्मा गांधी के बदलते रहनेवाले विचारों को आंख

बंद कर के मान लेने के बजाय अपनी स्वतंत्र बुद्धि से काम लेना ज़्यादा ठीक समझते हैं, जितनी शक्ति का अपव्यय करता है उस का यदि एक अंश भी वह पिछले इतिहास की जानकारी हासिल करने में ख़र्च करता तो इतनी ग़लत बातें न कही जातीं, इतने खोखले तर्क न पेश किए जाते और इतने भ्रमपूर्ण निष्कर्ष न निकाले जाते। और उन पुराने कार्यकर्ताओं के प्रति इतना अकृतज्ञता का भाव न दिखाई पड़ता जिन की कोशिशों की बदौलत ही आज इतनी उन्नति संभव हो सकी है। हमें यह बात न भुला देनी चाहिए कि अगर हम अपनी बुद्धिमत्ता से फूल कर अपने बाप-दादों को मूर्ख कह सकते हैं तो हमारे वंशज हमें महामूर्ख कह सकेंगे।

मुख्य कार्य

अभी भी इस बात के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे हैं कि कांग्रेस के ज़्यादा उत्साही लोगों में अपने अन्य सहयोगियों के प्रति असंतोष तथा संदेह का उदय होने लग गया है। कांग्रेस के समाजवादियों को अन्य कांग्रेसवादियों के झुकावों तथा हितों में बरजुआ मनोवृत्ति दिखाई पड़ने लगी है और वे उन्हें शांति से नहीं बैठने देना चाहते। इन लोगों का दल अभी तो आसमान में एक छोटे बादल जैसा ही है, लेकिन आशंका होती है कि वह फैल कर सारे आकाश को व्याप्त न कर ले। देशी नरेशों तथा ज़मींदारों का अस्तित्व मिटा देने की विचारहीन बातों का परिणाम यही हो सकता है कि संपन्न वर्ग भय-भीत हो जायँ और राष्ट्रीय आंदोलन के प्रति उन की सहानुभूति न रह जाय। भारत के सरकारी ऋण को अदा न करने की बातों के फल-स्वरूप ब्रिटेन में संशय उत्पन्न हो गया और नए भारतीय विधान में कुछ और संरक्षणों की वृद्धि हो गई, यह तो सभी को मालूम है। जो लोग वर्तमान कांग्रेस से बाहर हैं, उन की समझ से तो यह सीधी-सादी सी बात है कि इस समय भारत को अपनी सारी शक्ति स्वराज्य प्राप्त करने में लगानी चाहिए। ऐसे कार्यक्रम तैयार करना जिन की बदौलत आंतरिक विद्वेष तथा कलह उत्पन्न हो, बुद्धिमत्ता का कार्य नहीं हो सकता। इन कार्यक्रमों

में कितनी ही अच्छाइयां हों, यह तो निश्चित है कि वर्तमान शासन के क़ायम रहते हुए उन्हें कार्य रूप में परिणत नहीं किया जा सकता और उन के कारण राजनीतिक कार्यकर्ताओं में मतभेद उत्पन्न करने का परिणाम यही हो सकता है कि जिन के हाथ में आज वास्तविक शासन-शक्ति है और जो स्वभावतः उसे छोड़ना नहीं चाहते, उन की शक्ति और भी बढ़ जायगी। हमारा पहला कार्य यह है कि शासन-शक्ति अभारतीयों के हाथों से भारतीयों के हाथों में आ जाय। उस शक्ति का उपयोग किस प्रकार किया जायगा और उस का राष्ट्र के विभिन्न अंगों के बीच विभाजन किस प्रकार होगा, ये आगे के प्रश्न हैं।

परंतु आज के सार्वजनिक कार्यकर्ताओं का अधिक उत्साही दल इस प्रकार के विचारों को प्रतिक्रियावादी नहीं तो सुधारवादी तो बताता ही है और उन की उपेक्षा करना चाहता है। जिस के पास देखने को आंखें हैं, सुनने को कान हैं और विचार करने के लिए दिमाग़ है, उसे यह भ्रम कदापि नहीं हो सकता कि मुझ जैसे लोगों के विचार आज लोकप्रिय हैं। कोई उन की ओर से लोकप्रियता का दावा पेश नहीं कर सकता। किसी भी सार्वजनिक सभा में यह बात बड़ी आसानी से मालूम हो जायगी कि आज सार्वजनिक विषयों के प्रति अनुराग रखनेवाले लोगों का बहुमत इन विचारों के पक्ष में नहीं है। हां, यह दूसरी बात है कि बहुमत की बात सदा ठीक ही नहीं होती।

लोकतंत्र का आधार

अगर यह कहना धृष्टता न हो, तो मैं कहूंगा कि मुझे अब तक जिन सज्जनों से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, उन में शृंगेरी के श्री शंकराचार्य एक परम असाधारण व्यक्ति हैं। पिछले महीने हम कुछ लोगों को उन के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त होने पर उन्हों ने हम से कहा था कि बहुमत का शासन हो, इस के लिए यह भी आवश्यक है कि बहुमत में उचित निर्णय कर सकने की शक्ति भी हो। पुराने समय में यह सिद्धांत प्रचलित था कि

राजाओं को शासन करने का दैवी अधिकार प्राप्त है। यह सिद्धांत कितना भयानक सिद्ध हुआ, इतिहास के विद्यार्थी जानते हैं, परंतु यह सिद्धांत भी कि "लोकमत की आवाज़ ईश्वर की आवाज़ है" कम भयानक नहीं है। जब ब्रिटेन आदि देशों ने मिल कर रूस से युद्ध किया था जो कि 'क्रीमियन युद्ध' कहलाता है, तब उसे उन देशों के लोकमत का कितना अधिक समर्थन प्राप्त था! परंतु बाद को संसार ने उसे कैसा समझा है? हम में से कितनों ही को याद होगा कि जब महायुद्ध के बाद वारसाई की संधि हुई थी तो बहुसंख्यक लोगों ने कितनी प्रसन्नता प्रकट की थी, परंतु आज वह व्यक्ति कहां है जो उस की प्रशंसा करने को तैयार हो? अपने देश का ही एक उदाहरण लीजिए। जिन लोगों ने १९१६ के कांग्रेस-मुसलिम लीग वाले समझौते का उत्साहपूर्वक समर्थन किया था, उन में से कितनों ने बाद को उस पर खेद नहीं प्रकट किया? मि० बर्ट्रांड रसैल का कहना है कि "किसी राजनीतिक सिद्धांत के व्यापक प्रचार के प्रायः दो प्रकार के कारण होते हैं, जो एक दूसरे से बहुत भिन्न होते हैं। एक ओर तो ऐसे व्यक्ति होते हैं जो पहले से प्रचलित विचारों के फल-स्वरूप उत्पन्न होनेवाले नए विचार प्रकट करते हैं और उन का प्रचार करते हैं। दूसरी ओर राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थिति में कुछ ऐसी बातें रहती हैं जिन के कारण जनता को उन नए विचारों से अपने अभावों की पूर्ति की कुछ आशा होने लगती है।" गांधी जी के विचारों का जो व्यापक प्रचार हुआ है, उस का रहस्य इसी बात में छिपा हुआ है। मि० रसैल के शब्दों में "जब किसी व्यक्ति के आत्म-सम्मान को भयानक चोट लग जाती है, तो वह बुद्धिमत्तापूर्वक विचार नहीं कर पाता।" जिस समय गांधी जी अपना असहयोग का अस्त्र ले कर भारत के राजनीतिक मंच में अव-तीर्ण हुए, उस समय भारत के मन में जलियांवाला बाग़ का गहरा घाव बहुत ताज़ा था। उसी विचारक का कहना है कि "प्रायः सभी समय सभी तरह के महात्मा सभी तरह के सिद्धांतों का प्रचार करते रहते हैं,

परंतु उन में से प्रचार उन्हीं का हो पाता है जिन में तत्कालीन परिस्थिति के कारण उत्पन्न होनेवाली मनोवृत्ति के लिए कोई विशेष आकर्षण रहता है।" एक अन्य स्थान पर मि० रसैल ने लिखा है कि राजनीति में बुद्धि-वाद का ह्रास दो कारणों से होता है, जिन में एक यह है कि "संसार में ऐसे व्यक्ति तथा समुदाय मौजूद रहते हैं जिन्हें अपने लिए यथेष्ट अवसर नहीं मिलता" और जो इसी लिए परिवर्तन के समर्थक रहते हैं। उन के विचारानुसार "राष्ट्रवाद का बुख़ार अबुद्धिवाद का ही एक रूप है" और उस के कारण संघर्ष अनिवार्य हो जाता है।

क्रांति के बीज

भोपाल की स्वर्गीया बेगम साहबा ने लॉर्ड मैस्टन से कहा था, और उन्हों ने यह बात मुझ से दोहराई थी, कि ग़रीब लोगों की भूख और मध्यम श्रेणी वालों का असंतोष, क्रांति के बीजों के लिए उपजाऊ भूमि का काम देते हैं।। बेगम साहबा ने, जो कि बड़ी समझदार राजनीतिज्ञा थीं, संयुक्त प्रांत के लेफ़्टिनेंट-गवर्नर को यह चेतावनी दी थी कि ब्रिटिश भारत में ये दोनों ही बुराइयां मौजूद हैं। आज के भारत की सब से मुख्य बात क्या है? उस की निर्धनता। एक पुराने भारत-मंत्री, ड्यूक ऑफ़ आरगिल ने, जो बाद को अनुदार दल के एक स्तंभ हो गए थे, कहा था कि वैसे तो निर्धनता यूरोप में भी है, परंतु भारत जैसी पीस डालनेवाली ग़रीबी कहीं अन्यत्र नहीं मिलेगी। और भारतीय आर्थिक प्रश्नों के भारी जानकार दादाभाई नौरोजी का तो यह निश्चित विचार था कि ब्रिटिश शासन ने भारतीय जनता को बहुत ही भारी आर्थिक क्षति पहुँचाई है। मि० जॉन ऐडम ने कहा था कि "भारत संसार के सब से धनी देशों में है और फिर भी भारतवासी सब से निर्धन हैं।" और राजनीतिक पराधीनता के कारण मध्यम श्रेणी वाले भारतीयों की आत्म-सम्मान की भावना को पग-पग पर चोट लगती ही रहती है। श्री गोखले ने वैलबी कमीशन के सम्मुख कहा था कि "वर्तमान शासन-प्रणाली के कारण हमारे लंबे से लंबे व्यक्तियों को भी झुक कर

रहना पड़ता है।" हम चाहते हैं कि हमारे देश में हमारी वही स्थिति हो जो अन्य देशों में वहां के लोगों की है। ये दो बुराइयां तो—आर्थिक निर्धनता तथा राजनीतिक असंतोष—भारतीय परिस्थिति में स्थायी रूप से वर्तमान हैं। उन की तीव्रता को बढ़ा देने के लिए बीच-बीच में पंजाब का मार्शल लॉ तथा समय-समय पर दमन-चक्र की अतिशयता जैसी अस्थायी बातें भी हो जाती हैं जिन के कारण जनता की विचारशीलता और भी भंग हो जाती है। इस प्रकार की राजनीतिक भूमि थी जिस में श्री गांधी ने पहले असहयोग और फिर सत्याग्रह के बीज बोए। वे आध्यात्मिक उच्चता के महान व्यक्ति हैं, परमोच्च चरित्र वाले हैं, उन की निस्स्वार्थता तथा त्याग की भावना असाधारण है। संन्यासी जैसे इस महात्मा ने भूख तथा असंतोष से पीड़ित जनता के सम्मुख आ कर कहा कि लो, यह तुम्हारे सारे रोगों की रामबाण औषधि है। अगर उन का संदेश नगर-नगर और गांव-गांव में शीघ्रता से व्याप्त हो गया, तो मानव स्वभाव को देखते हुए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

लिबरल मत

दूसरी ओर लिबरल मत है। कम से कम मेरी समझ में तो वह देशभक्ति की भावना से प्रेरित है, बुद्धिमत्तापूर्ण है और देश की परिस्थिति को देखते हुए उपयुक्त है, परंतु उस के साथ गांधी जैसी महान आत्मा वाला कोई व्यक्ति नहीं है। उस में वास्तविक किंतु कवित्वहीन बातों और उत्तेजनारहित बुद्धिवाद का इतना सम्मिश्रण है कि वह बहु-संख्यक जनता की दृष्टि में आकर्षक नहीं हो सकता। एक अंग्रेज़ सज्जन के शब्दों में "लिबरल (उदार) वाद ठीक और ग़लत की, नैतिक तथा अनैतिक की बारीकियों को इतना अधिक महत्व देता है और ग़लत लेकिन सीधे-सादे और ज़ोरदार ढंग से बात करने तथा भावनाओं को उत्तेजित करने से इतना दूर रहता है, कि उस का जनता पर प्रभाव नहीं पड़ पाता। यह सब होते हुए भी, अगर सरकार ही लिबरलों की वाजिबी बातों की ओर कुछ ध्यान देती, तो परिणाम

बहुत कुछ भिन्न हो सकता था। जनता की सरकार के प्रति नाराज़ी कम होने पर उस की मनोवृत्ति में भी कुछ अंतर आ जाता। लेकिन सरकारें तो इस बात के लिए बदनाम रही हैं कि वे बुद्धिमता से कार्य नहीं लेतीं। जब सरकार नौकरशाही हो और उस पर भी विदेशी, तब तो कहना ही क्या है!

सरकार की ज़िम्मेदारी

जब मैं उन अनेक अवसरों का स्मरण करता हूं जब सरकार लोकमत की वाजिबी सी बातों को मान कर और ग़रीबों की हालत सुधारने के लिए कुछ थोड़ा सा काम कर के अपनी भी और वैध आंदोलन के समर्थकों की भी स्थिति को सुदृढ़ कर सकती थी; जब मैं यह विचार करता हूं कि तनिक सी सहानुभूति, तनिक सी मनुष्यता, चोट खाए हुए लोगों के घाव को भरने में कितनी सहायक हो सकती थी; और जब मैं यह सोचता हूं कि सरकार ने अपनी विचारहीनता से इस प्रकार के अवसरों को किस प्रकार खो दिया है तथा जनता में नई-नई नाराज़ियां पैदा कर के कांग्रेस के नवीन समर्थकों की संख्या में किस प्रकार वृद्धि की है, तो प्राचीन ईरान के उस संत की बात याद आ जाती है जिस ने कहा था, "देखो बेटा, कितनी थोड़ी बुद्धि से संसार का शासन-कार्य चल जाता है।" सरकार अगर जनता की दृष्टि में इतनी बुरी तथा अविश्वसनीय हो गई है, तो इस की ज़िम्मेदारी उसी पर है। साथ ही उस ने लोकमत के प्रति जिस उपेक्षा तथा अवज्ञा का प्रदर्शन किया है, उस से लिबरल पार्टी की स्थिति को भी भारी धक्का लगा है। जो सरकार लोकमत का आदर न करती हो, उस के शासन में वैध आंदोलन में विश्वास रखनेवाले राजनीतिक दल का पनप सकना कठिन ही है।

लिबरल और कांग्रेस

इस परिस्थिति में स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि लिबरल लोग अपने पुराने ढंगों को छोड़ कर कांग्रेस में शरीक हो कर उस की शक्ति क्यों नहीं बढ़ाते। इस का उत्तर अंशतः पहले दिया जा चुका है। उस के अतिरिक्त इतना और

कह देना यथेष्ट होगा—जब वे मुल्क की हालत देखते हैं और देखते हैं कि लोगों में अनैक्य फैला हुआ है, विभिन्न संप्रदायों के बीच सद्भावना का अभाव है, अल्प-संख्यक समुदाय बहुमत के निर्णय को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं, जिस शक्ति का देश के लिए स्वराज्य की प्राप्ति के प्रयत्न में सद्व्यय किया जा सकता था उस का संप्रदाय अथवा समुदाय विशेष के लाभार्थ पारस्परिक झगड़ों में अपव्यय किया जाता है, (अंग्रेज़ी सरकार की कृपा से) हम अपने देश की सैनिक रक्षा का भार ग्रहण करने में असमर्थ हैं और वे सामाजिक कुरीतियां तथा रूढ़ियां जिन से हमारी क्षमता तथा एकता में बाधा पड़ती है प्रायः ज्यों की त्यों मौजूद हैं, तो लिबरलों को इस अनिवार्य विचार के सामने सिर झुका लेना पड़ता है कि राजनीतिक संग्राम के जिन अस्त्रों का उपयोग करने पर अधिकारियों से घोर संघर्ष आवश्यक है उन का व्यवहार कर सकने के योग्य बनने के लिए अभी भारी तैयारी की आवश्यकता है। उन के लिए इस बात का ढोंग करना कि वे वर्तमान कांग्रेस के ढंगों को उचित, बुद्धिमत्तापूर्ण अथवा कारगर समझते हैं, अपने आप को तथा देश को धोखा देना होगा। जो अपने आप को धोखा दे सकता है, वह देश को धोखा दिए बिना कैसे रह सकता है? देश के लिए सब से अच्छी बात यह होगी कि कांग्रेस में असहनशीलता की मात्रा कुछ कम हो और बुद्धिमत्ता की कुछ अधिक, लिबरल पार्टी में त्याग की भावना कुछ अधिक हो, विभिन्न संप्रदायों के बीच विश्वास की मात्रा कुछ अधिक हो और सब के बीच पारस्परिक सहयोग की भावना की वृद्धि हो। रिचर्ड बैक्सटर की यह बात सदा के लिए ठीक है और भारत के सार्वजनिक कार्यकर्ताओं को उस पर मनन करने की आवश्यकता है—"महत्वपूर्ण बातों में एकता, कम महत्व की बातों में स्वतंत्रता और सब बातों में उदारता।"

राजनीतिक उन्नति

दूसरा विचारणीय प्रश्न यह है कि भारत की राजनीतिक घटनाओं का जो सिंहावलोकन किया किया गया है, उस से यह निष्कर्ष निकलता है अथवा नहीं कि देश ने राजनीतिक

उन्नति की है। मेरा अपना मत तो यह है कि उन्नति हुई तो अवश्य है, परंतु वह काफ़ी नहीं है। गवर्नर-जनरल की लैजिस्लेटिव कौंसिल की स्थापना सन् १८५४ में हुई थी और उस समय उस में एक भी ग़ैर-सरकारी मेंबर नहीं था। सन् १८६१ में पहला इंडिअन कौंसिल्स ऐक्ट पास हुआ और कुछ ग़ैर-सरकारी व्यक्ति सरकार द्वारा नामज़द हो कर कौंसिलों के सदस्य हो गए। इकतीस वर्ष बाद सन् १८९२ में नया इंडिअन कौंसिल्स ऐक्ट पास हुआ जिस से कौंसिलों में कुछ सुधार हुए। सत्रह वर्ष बाद फिर सुधार हुए। सन् १९०९ में स्थापित होनेवाली मॉर्ले-मिंटो कौंसिलें असंतोषजनक अवश्य थीं, परंतु यह कौन कह सकता है कि वे सन् १८९२ के ऐक्ट वाली कौंसिलों की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छी नहीं थीं ? सुधारों का चौथा ऐक्ट दस वर्ष बाद बना। मांटेगू सुधारों की बाबत साधारणतः यह धारणा फैली हुई है कि वे असफल रहे। मैं इस मत से इस हद तक सहमत हूं कि उन से जितनी आशा की जाती थी, उतने संतोषजनक वे नहीं प्रमाणित हुए। इस बात की ज़िम्मेदारी सरकार तथा कांग्रेस दोनों ही पर है। मेरा सदा यह विचार रहा है कि अगर कांग्रेस कौंसिलों के कार्य में भाग लेने की नीति का पालन करती तो मांटेगू ऐक्ट इतना निराशाजनक न प्रमाणित होता। उस दशा में राष्ट्रीय मत इतना प्रबल होता कि नौकरशाही भी उस की उस प्रकार उपेक्षा करने का साहस न करती जिस प्रकार कि उस ने की है। यह सच है कि भारत की सरकारों ने १९१९ के विधान के उदार निर्माता (मि० मांटेगू) के उद्देश्यों को विफल करने के प्रयत्न में कोई बात उठा नहीं रक्खी। लेकिन साथ ही यह बात भी उतनी ही सच है कि अगर उन्हें अपने इस प्रयत्न में सफलता मिली तो इस का एक मुख्य कारण कांग्रेस का ग़ैर-वाजिबी रुख़ भी था। सन् १९१९ के ऐक्ट को पास हुए सोलह वर्ष बीत चुके और अब इसी वर्ष फिर नया ऐक्ट बना है। उस के संबंध में मैं अपना विचार यथेष्ट रूप से प्रकट कर चुका हूं और उसे यहां दोहराने की आवश्यकता

आमी की—इंडिआ कौंसिल (भारत-मंत्री की कौंसिल) में नियुक्ति हुई। इस के दो वर्ष बाद वायसराय की एग्ज़ीक्यूटिव कौंसिल में प्रथम भारतीय सज्जन की नियुक्ति हुई। और इस के बाद मद्रास, बंबई तथा बंगाल के गवर्नरों की एग्ज़ीक्यूटिव कौंसिलों में भी भारतीय सदस्यों की नियुक्ति हो गई। संयुक्त प्रांत में भी एग्ज़ीक्यूटिव कौंसिल की स्थापना होनी चाहिए, सरकार के इस प्रस्ताव को दो बार लॉर्ड सभा ने अस्वीकार किया। परंतु आज देखिए। वायसराय की एग्ज़ीक्यूटिव कौंसिल में तीन भारतीय हैं, मद्रास, बंबई और बंगाल की में दो-दो, और अन्य प्रांतों में एक-एक। अब कोई ऐसा प्रांत नहीं है जहां एग्ज़ीक्यूटिव कौंसिल न हो। इन के सिवाय प्रांतों में मंत्री हैं, जो सब के सब भारतीय हैं। मांटेगू युग के पूर्व तो इतनी उन्नति की बात पर किसी को विश्वास भी न होता। प्रिवी कौंसिल में भी भारतीयों का प्रवेश हो गया है। हाई कोर्टों के भारतीय जजों की संख्या को भी देखिए। प्रथम बार जब लॉर्ड रिपन ने एक भारतीय सज्जन (सर रमेश चंद्र मित्र) को स्थानापन्न चीफ़ जस्टिस नियुक्त किया था, तो भारत के अंग्रेज़ों में इस नई बात से बड़ी नाराज़ी फैली थी। तब से अनेक भारतीय स्थानापन्न चीफ़ जस्टिस हो चुके हैं और दो तो इस पद पर स्थायी रूप से भी रह चुके हैं। एक भारतीय सज्जन लॉर्ड सभा के सदस्य, सहकारी भारत-मंत्री तथा एक प्रांत के गवर्नर भी रह चुके हैं। कई भारतीय स्थानापन्न गवर्नर रह चुके हैं।

निराशाजनक बात

यह बात स्वीकार कर लेने पर कि राजनीतिक उन्नति के पथ की ये कई मंज़िलें तै हो चुकी हैं, यह प्रश्न उठता है कि इन सुधारों के फल-स्वरूप वास्तविक शक्ति जनता के प्रतिनिधियों के हाथों में आई है या नहीं। इस का उत्तर नकारात्मक ही हो सकता है। प्रत्येक बार के सुधारों में इस भद्दी बात को कि वास्तविक शक्ति ब्रिटिश के ही हाथों में है, मानो ख़र्चीली कौंसिल-प्रणाली की दिखावटी तड़क-भड़क में छिपाने की कोशिश की गई

है। ब्रिटेन के एक अत्यंत विचारशील पत्रकार, मि० स्पेंडर का कहना है कि "जहां सरकार कौंसिल के नियंत्रण से स्वतंत्र रहती है और उस के असंतुष्ट होने पर भी क़ायम रह सकती है, वहां राजनीतिज्ञों को उन देशों के राजनीतिज्ञों जैसी शक्ति तथा प्रभाव की प्राप्ति नहीं हो सकती जहां कि पार्लामेंट का ही बोल बाला है।" उन्हीं का यह भी कहना है कि सभी विधानों में सरकार तथा कौंसिल के बीच शक्ति के लिए अप्रकट परंतु अनवरत संघर्ष चला करता है। हमारी व्यवस्थापिका सभा को यह अधिकार नहीं मिला कि वह अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करा सके।

ब्रिटिश पार्लामेंट और भारतीय व्यवस्थापका सभा

ब्रिटिश पार्लामेंट की कामन्स सभा वास्तव में एक स्वतंत्र संस्था है। इसलिए देश के योग्य से योग्य व्यक्ति उस में प्रवेश प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। इसलिए वहां के भाषणों का शासन-कार्य के व्यावहारिक पहलू से संबंध रहता है। कामन्स सभा के सदस्यों की ब्लैकस्टोन ने इस प्रकार व्याख्या की थी :—

कामन्स सभा में लॉर्डों को छोड़ कर साधारण जनता के प्रतिनिधि हैं। प्रत्येक सदस्य चुना तो एक निर्वाचित क्षेत्र की ओर से जाता है, परंतु निर्वाचित हो जाने के बाद वह समस्त देश की सेवा करने का प्रयत्न करता है। पार्लामेंट तक पहुँचने में उस का उद्देश्य अपने ज़िले को नहीं, बल्कि समूचे राष्ट्र को लाभ पहुँचाना रहता है।

लेकिन हमारी कौंसिलों की रचना किस प्रकार की है? उन का निर्वाचन होता है विभिन्न संप्रदायों तथा हितों के अलग-अलग एक दर्जन से भी अधिक तरह के निर्वाचन-क्षेत्रों के द्वारा। हमारी कौंसिलों में ज़मींदारों, व्यवसायियों आदि की संस्थाओं के प्रतिनिधि तो हैं ही, उन में मुसलमानों, यूरोपियनों, एंग्लो-इंडियनों, भारतीय ईसाइयों, सिक्खों, दलित जातियों, स्त्रियों आदि के भी अलग-अलग चुने गए प्रतिनिधि हैं। ब्रिटिश

पार्लामेंट की इतनी अधिक शक्ति होने के कारण ब्रिटेन में "पार्लामेंट की सदस्यता तथा सार्वजनिक जीवन पर्यायवाची शब्द हो गए हैं, और वहां कोई व्यक्ति अच्छा पार्लामेंटेरिअन हुए बिना राजनीतिक महत्व प्राप्त नहीं कर सकता।" अमेरिका की पार्लामेंट (कांग्रेस) इतनी शक्तिशालिनी नहीं है और इसलिए वहां "कांग्रेस की सदस्यता का कोई विशेष महत्व नहीं है। अगर किसी व्यक्ति में इतनी शक्ति तथा क्षमता न हो कि वह कांग्रेस के बाहर भी शक्तिशाली बन सके, तो कांग्रेस की सदस्यता उलटी बाधा उपस्थित कर सकती है।" परंतु अमेरिका में इस कमी का बदला इस बात से चुक जाता है कि वहां की सरकार के अध्यक्ष, राष्ट्रपति, भी जनता द्वारा निर्वाचित होते हैं। हमारी कौंसिलें तो जर्मनी की पुरानी पार्लामेंट की तरह हैं जिस की बाबत कहा जाता था कि उस से "स्वेच्छा-चारितापूर्ण तथा नौकरशाही वाली शासन-प्रणाली में लोकतंत्रवाद की नक़ली गोट लग जाती है।" उस की बाबत कहा जाता था कि "उस में तीन दर्जन तो योग्य और होशियार आदमी हैं और साढ़े तीन सौ बुद्धू हैं जिन्हें उस के कार्य में कोई दिलचस्पी नहीं रहती।" मुझे आश्चर्य न होगा अगर हमारी नौकरशाही भी हमारी कौंसिलों की बाबत ऐसा ही विचार रखती हो और सोचती हो कि इस प्रकार की संस्थाओं को वास्तविक राजनीतिक शक्ति प्रदान करना ठीक न होगा। वह यह भी सोच सकती है कि वोटरों की संख्या में भारी वृद्धि हो जाने पर भी भारत की कौंसिलें जनता की सच्ची प्रतिनिधि न होंगी और इसलिए उन्हें वास्तविक शक्ति प्रदान करना थोड़े से लोगों के हाथों में शासन-शक्ति दे देना होगा। इस तर्क का एक उत्तर यह हो सकता है कि विदेशी नौकरशाही के हाथ में शक्ति रहने की अपेक्षा यह कहीं अच्छा है कि वह थोड़े से भारतीयों के हाथों में रहे। लेकिन एक दूसरा उत्तर और भी है। सन् १८३२, १८६७, १८८४ और १९१८ के सुधारों के द्वारा उसे अपना वर्तमान रूप प्राप्त होने के पूर्व ब्रिटिश पार्लामेंट की क्या हालत थी? वह जनता की कितनी

सच्ची प्रतिनिधि थी ? उस की तब की स्थिति का एक प्रामाणिक वर्णन इस प्रकार है—

साधारण राजनीतिज्ञों का इनाम में हिस्सा पाने के समय के अतिरिक्त और कोई महत्व नहीं था। उन में से अधिकांश अपने संरक्षकों की इच्छानुसार वोट दे देने और अपना वेतन पा लेने भर से संबंध रखते थे। और जब वे आज्ञाकारितापूर्वक वोट नहीं देते थे तब अपना मूल्य वसूल कर लेते थे। उन के संरक्षक उन से इस बात की न तो इच्छा रखते थे और न आशा कि उन के लिए पार्लामेंट में जो कार्य निश्चित कर दिया गया हो, उस के सिवाय वे राजनीति में हस्तक्षेप करेंगे। कामन्स-सभा के तीन-चौथाई निर्वाचन-क्षेत्र या तो इस क़दर ज़मींदारों के आधिपत्य में थे कि वे जिसे चाहें उसे निर्वाचित करा सकते थे और या ऐसे थे कि अधिक से अधिक रुपया खर्च करनेवाला उन के वोट खरीद सकता था। निर्वाचन-प्रणाली तीन सौ वर्ष पुरानी तथा दक़ियानूसी थी। ट्यूडर-कुल के नरेशों ने अपने समर्थकों का बल बढ़ाने के लिए बहु-संख्यक नए निर्वाचन-क्षेत्र क़ायम कर दिए थे, जो निकटवर्ती ज़मींदारों के नियंत्रण में आ गए थे। अगर यह बात न होती तो भी उस का पुरानापन ही प्रणाली को बिगाड़ देने के लिए यथेष्ट होता। ओल्डफ़ील्ड के अनुसार सन् १८१५ तक कामन्स-सभा में ४७१ सदस्य ऐसे थे जिन का निर्वाचन १४४ लॉर्डों तथा १२३ अन्य व्यक्तियों की कृपा का फल था, १६ मेंबर सरकार के आदमी थे और केवल १७१ सदस्य ऐसे थे जो वास्तव में जनता द्वारा निर्वाचित हुए थे। ये लोग ऐसे निर्वाचन-क्षेत्रों से निर्वाचित हुए थे, जिन के वोटर इतने स्वतंत्र थे कि उन के वोट न तो ज़बर्दस्ती लिए जा सकते थे और न खरीदे जा सकते थे; लेकिन वहां चुनाव लड़ना इतने अधिक खर्चे का काम था कि बड़े लोग ही ऐसा कर सकते थे। और इंगलैंड की २० लाख की जन-संख्या में केवल १,६५,००० हाथों में मत-

धिकार प्राप्त था। (जे० ए० स्पेंडर की "पब्लिक लाइफ़" नामक पुस्तक से)

और उन मंत्रिमंडलों का जो इस पार्लामेंट के प्रति ज़िम्मेदार होते थे, निर्माण किस प्रकार होता था? ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के जीवन-चरित इस प्रकार के उदाहरणों से भरे पड़े हैं कि अनुपयुक्त व्यक्तियों की नियुक्ति हुई और वह भी ऐसे कारणों से जिन का लोक-हित से किसी प्रकार का संबंध नहीं था। कतिपय उदाहरण देखिए—

ब्रिटिश मंत्रिमंडलों का निर्माण

डिज़रेली ने मंत्रिमंडल का निर्माण करते समय एक व्यक्ति को व्यापार-मंत्री बनाना चाहा। उस ने कहा कि मुझे स्थानीय स्वराज्य का विभाग दिया जाय तो ज़्यादा ठीक होगा, क्योंकि मुझे देश के व्यापार की अपेक्षा म्यूनिसिपल मामलों की अधिक जानकारी है। डिज़रेली ने उत्तर दिया, "इस बात की कोई चिंता न करो। मैं समझता हूं कि जलसेना मंत्री ब्लैक को जहाज़ों की जितनी जानकारी है, उतनी तुम्हें व्यापार की अवश्य है।"

रिचार्ड लेलर शेल से पूछा गया कि तुम्हें व्यापार-मंत्री क्यों बनाया गया, तो उस ने उत्तर दिया कि "शायद यह कारण हो कि व्यापार की मुझ से कम जानकारी पार्लामेंट के किसी अन्य सदस्य को नहीं है।"

जॉन ब्राइट को भी व्यापार-मंत्री का पद मिला था। वे शासन-कार्य के लिए इतने अधिक अनुपयुक्त थे कि वे काग़ज़ात को लाल फ़ीते से बाँधना तक न जानते थे।

लॉर्ड पामर्स्टन ने सर जार्ज कार्नवाल लैविस को युद्ध-मंत्री नियुक्त करने का निश्चय कर लेने के बाद उन की पत्नी लेडी थैरेसा लैविस से इस संबंध में बातचीत करते हुए कहा कि उन्हें युद्ध संबंधी कोई कार्य नहीं करना होगा। प्रधान मंत्री ने कहा "उन्हें सेना के व्यय का हिसाब देखना होगा।" पत्नी ने कहा "वे तो अपना हिसाब भी तैयार

नहीं कर सकते।" प्रधान मंत्री ने कहा "वे सेना के सामग्री-विभाग की देख-रेख करेंगे।" पत्नी ने कहा "वे तो अपने भोजन की भी व्यवस्था नहीं कर सकते।" प्रधान मंत्री ने फिर कहा "वे सेना के वस्त्र-विभाग का नियंत्रण करेंगे।" पत्नी ने फिर उत्तर दिया कि "अगर मेरी पुत्रियां उन के दर्ज़ी से कपड़े न बनवा दिया करें तो थोड़े दिनों में उन के पास एक कोट भी न रह जायगा।" लेकिन कार्नवाल लेविस ने युद्ध-मंत्री का पद स्वीकार कर लिया।

एक बार उपनिवेश-मंत्री के पद के लिए उपयुक्त व्यक्ति मिलने में कुछ कठिनाई हुई तो लॉर्ड पामर्स्टन ने कहा कि "उपनिवेश-विभाग मैं स्वयं ले लूंगा।" इस के बाद उन्हों ने एक कर्मचारी से कहा "ज़रा आधे घंटे के लिए ऊपर आओ और मुझे नक़्शे में दिखा दो कि ये स्थान कहां हैं।"

चार्ल्स जेम्स फ़ॉक्स ने एक बार यह स्वीकार किया था कि वे कंसोल्स (एक प्रकार की हुंडी) का अर्थ नहीं समझते थे। समाचार-पत्रों से उन्हों ने यह जान लिया था कि वे उठने और गिरनेवाली चीज़ें हैं। और उन के गिरने से उन्हें सदा प्रसन्नता होती थी, क्योंकि उन्हों ने देखा था कि इस से अर्थ-मंत्री, पिट, को चिंता होती थी।

लॉर्ड रैंडॉल्फ़ चर्चिल के पुत्र तथा चरित-लेखक ने लिखा है कि जब वे अर्थ-मंत्री थे और उन के सामने सरकारी हिसाब रक्खे गए तो उन्हों ने दशमलव चिन्हों को देख कर पूछा कि इन बूंदों का क्या मतलब है।

सर एडवर्ड कार्सन ने सन् १९१७ में, महायुद्ध के बीच, जल-सेना मंत्री की हैसियत से कहा था कि उन्हें यह पद ग्रहण करते समय उस की कोई जानकारी नहीं थी। "जिस दिन मैं पहली बार अपने दफ़्तर में गया किसी ने मुझ से पूछा कि क्या हाल है। मैं ने कहा कि जल-सेना-मंत्री

का पद पाने का मुझे सब से बड़ा अधिकार यह है कि मैं उस के बारे में कुछ नहीं जानता।"

लेकिन यह बात किसी को नहीं सूझी कि पार्लामेंट में ऐसी गड़बड़ है और मंत्रिमंडलों का निर्माण ऐसे असंतोषजनक ढंग से होता है, इसलिए पार्लामेंट के अधिकारों में कमी कर दी जाय। हमारी कौंसिलें कभी इस बात को नहीं भुला सकतीं कि संभव है कि उन के निर्णय के अनुसार कार्य न किया जाय और इस जानकारी का उन पर अवांछनीय प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। अवांछनीय प्रभाव का एक उद्गम और है जिसे मि० स्पेंडर के शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है—"कुछ देशों में अधिकारियों ने उपाधि-वितरण को एक कला बना लिया है, जिस से स्वतंत्र विचारों का विकास रोकने या सरकार को अच्छे न लगनेवाले ढंगों को रोकने का काम लिया जाता है।" कुल बातों को देखते हुए कहा जा सकता है कि यद्यपि हमारी कौंसिलों में कभी-कभी वाद-विवाद बड़ी उच्च कोटि पर पहुँच जाता है, परंतु प्रायः उस में वास्तविकता का अभाव सा रहता है।

समाचारपत्रों की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगानेवाले क़ानूनों का उल्लेख किया जा चुका है। उन के परिणाम-स्वरूप समग्र जनता की राजनीतिक स्वाधीनता पर आघात होता है। सभ्य मानव के ये नागरिक अधिकार हैं कि उस का शरीर तथा उस की संपत्ति सुरक्षित रहे और उसे बोलने, लिखने, सभा करने तथा किसी भी धर्म को मानने की स्वतंत्रता रहे। किसी भी सभ्य सरकार को जहां तक संभव हो, इस स्वतंत्रता में हस्तक्षेप न करना चाहिए और अगर संकट-काल में ऐसा करना आवश्यक भी हो जाय तो उतने ही समय के लिए तथा उतनी ही मात्रा में हस्तक्षेप करना चाहिए जितना कि अनिवार्य हो। समाचारपत्रों के संबंध में सन् १८९८ के राजविद्रोह ऐक्ट, सन् १९१० के प्रेस ऐक्ट, १९२२ और १९३४ के नरेश-संरक्षण ऐक्ट, १९३०

समाचारपत्रों पर प्रतिबंध

और १९३३ के प्रेस ऑर्डिनेंस और १९३१, १९३२ और १९३५ के क्रिमिनल लॉ एमेंडमेंड ऐक्ट के अवसरों पर इन सिद्धांतों की पूर्णतः उपेक्षा की गई है। अधिकारियों को समाचारपत्रों पर नियंत्रण रख सकने का व्यापक अधिकार प्रदान करने के लिए संकट-काल में जो अस्थायी क़ानून बनाए गए थे, उन्हें इस वर्ष केंद्रीय सरकार ने तो स्थायी रूप प्रदान कर दिया है और कई प्रांतीय सरकारों ने उन की अवधि में पाँच-पाँच वर्ष की वृद्धि कर दी है। शायद यह उन बड़े सुधारों की तैयारी है जो प्रांतों में जारी होनेवाले हैं। एक ओर प्रांतीय स्वराज्य की स्थापना के साथ प्रांतों में ऐसे मंत्रिमंडलों का जन्म होने जा रहा है, जो अपने कार्यों के लिए जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों के सम्मुख उत्तरदायी होंगे और दूसरी ओर नौकरशाही अभी से उन की धाय बन कर उन की रक्षा का यह प्रबंध करने जा रही है। और यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि मंत्रि-पद कोई भी ग्रहण करे, वास्तविक शक्ति संभवतः नौकरशाही के ही हाथों में रहेगी। समाचारपत्रों की क्या स्थिति है और सरकार उन की स्वतंत्रता में किस प्रकार हस्तक्षेप करती है, इस संबंध में एक प्रतिष्ठित तथा अनुभवी सार्वजनिक कार्यकर्ता का कहना है कि—

आधुनिक संसार में समाचारपत्र जनता के स्वशासन का एक आवश्यक अंग है। पत्रों का तो राजनीति के बिना काम चल भी सकता है, परंतु राजनीति का उन के बिना काम नहीं चल सकता। पत्रों की स्वतंत्रता में हस्तक्षेप करने के मामले में सरकार सब से अधिक दोषी रही है। सरकार का नियंत्रण बढ़ने का अर्थ होता है उस के आलोचकों की शक्ति घटना और उस के पिट्ठुओं की तादाद बढ़ना।

भारतीय समाचारपत्रों के संबंध में दो बातें मुख्य हैं। एक तो यह कि जनता ने त्याग तथा अध्यवसाय के द्वारा समाचारपत्रों को प्रतिष्ठित किया है। और दूसरी यह कि सरकार ने शक्तिहीन कौंसिलों की सहायता

से बार-बार क़ानून पास करा के उन की स्वतंत्रता पर आघात किया है और उन पर अपना आधिपत्य स्थापित किया है।

वास्तविकता और दिखावट

जो कुछ मैं ने कहा है उस से इस आलोचना की पुष्टि हो जाती है कि ब्रिटिश सरकार तथा पार्लामेंट ने भारतीय जनता को राजनीतिक अधिकार प्रदान करने का दिखावा तो बहुत किया है, परंतु वास्तविक शक्ति उन्हों ने अपने ही हाथों में रखने की कोशिश की है। परंतु भारतीय लोकमत अब इस मामले में काफ़ी अनुभवी हो गया है और वह कोरे दिखावे से संतुष्ट न होकर वास्तविक शक्ति प्राप्त करना चाहता है। भारत की आर्थिक परिस्थिति इतनी ख़राब हो गई है और राजनीतिक स्थिति में भी इतना परिवर्तन हो गया है कि सुधार कही जानेवाली किसी भी बात की अब एक ही कसौटी हो सकती है और वह यह कि उस में वास्तविकता कितनी है।

शासन-क्षेत्र में

शासन-क्षेत्र में कुछ दिशाओं में कुछ उन्नति हुई है। इस उन्नति की मुख्य बात यह है कि उच्च सरकारी पदों में भारतीयों का प्रवेश हो गया है। सैन्य विभाग के उच्च पदों के संबंध में तो भारतीयकरण की गति अब भी बड़ी ही धीमी तथा असंतोषजनक है। इंडिअन सिविल सर्विस की परीक्षा अब भारत में भी होती है और लंदनवाली परीक्षा में भी भारतीय छात्र सम्मिलित हो सकते हैं। परंतु आई० सी० एस० के भारतीयकरण में बाधा डालनेवाली एक बात अभी यह हो गई है कि भारत-मंत्री को यह अधिकार दे दिया गया है कि लंदन की परीक्षा में जो भारतीय सफलता प्राप्त करेंगे उन में से कितनों को लिया जाय या न लिया जाय इस का निर्णय उन की इच्छा पर रहेगा। सन् १९२३ के ली कमीशन ने उच्च-पदस्थ अंग्रेज़ अफ़सरों के साथ ग़ैर-वाजिबी रिआयतें कर दी हैं। इन की बदौलत सरकार का ख़र्चा या जनता का आर्थिक भार बढ़ गया है, लेकिन ये रिआयतें जारी रहेंगी। कुल मिला कर कहा जा सकता है कि भारतीयकरण की उन्नति हुई है, परंतु उतनी

नहीं जितनी होनी चाहिए थी। न्याय तथा शासन-विभाग के पृथक्करण का आवश्यक सुधार अब तक नहीं हो पाया है। अधिकारियों की इच्छानुसार चलनेवाली शासन-प्रणाली में कभी कुछ बुरी और कभी कुछ भली बातें तो हुआ ही करती हैं। सब बातों पर दृष्टिपात करते हुए यह कहना तो उचित न होगा कि सुधार हुआ ही नहीं है, परंतु हां जो सुधार हुआ है वह इतना नहीं है कि उस से सुधारकों को संतोष हो सके।

स्थानीय स्वराज्य में वास्तविक उन्नति हुई है। हमारे डिस्ट्रिक्ट तथा म्यूनिसिपल बोर्डों को पिछली पीढ़ी की अपेक्षा कहीं अधिक स्वराज्य प्राप्त है। किसानों के अधिकार पहले की अपेक्षा बढ़ गए हैं, परंतु उन की स्थिति अब भी संतोषजनक नहीं है और उन के अधिकारों संबंधी क़ानून में संशोधन की अत्यंत आवश्यकता है। लेकिन क़ानून में इस तरह का परिवर्तन न होना चाहिए जिस की बाबत यह कहा जा सके कि ज़मींदारों के अधिकारों का अपहरण किया जा रहा है। उदाहरणतः उन के साथ वैसा व्यवहार न होना चाहिए जैसा हाल के एक क़ानून द्वारा मद्रास प्रांत के इनामदारों के साथ हुआ है। ज़रूरत ऐसे क़ानून की है कि एक ओर तो ज़मींदारों के न्यायोचित अधिकार सुरक्षित हो जायँ और दूसरी ओर उन के लिए किसानों के प्रति अन्याय कर सकना असंभव हो जाय। विश्वविद्यालयों की संख्या में संतोषजनक वृद्धि हुई है और यह बात स्वीकृत हो गई है कि केवल परीक्षाओं की व्यवस्था करनेवाले विश्वविद्यालयों की अपेक्षा शिक्षा का प्रबंध करनेवाले विश्वविद्यालय अधिक वांछनीय हैं। मैं एक नवीन विश्वविद्यालय की छत्रछाया में ही भाषण कर रहा हूं और एक भारतीय तथा एक आंध्र की हैसियत से—बल्कि इसी ज़िले के निवासी की हैसियत से भी—उस की हृदय से मंगलकामना करता हूं। आंध्र विश्वविद्यालय को इस बात का सौभाग्य प्राप्त है कि आंध्रदेश के सब से अधिक विद्वान्, सब से अधिक प्रतिभाशाली तथा सब से अधिक विख्यात सुपुत्र उसके वाइस-चांसलर (अधिष्ठाता) हैं। सर राधाकृष्णन ने केवल

अपनी योग्यता के बल पर अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर ली है और अब वे अपने राष्ट्र की एक विभूति हैं। हाल के वर्षों में विद्या के क्षेत्र में मौलिक अन्वेषण ने भी अच्छी उन्नति की है और आज भारत में ऐसे विद्वान तथा विज्ञानवेत्ता मौजूद हैं जिन के कार्य पर उन के देशवासी समुचित गर्व कर सकते हैं।

चूंकि मैं देशी राज्यों की शासन-प्रणाली की बाबत बुरी राय ज़ाहिर कर चुका हूं, इसलिए उन में से कुछ का, जहां वास्तविक उन्नति हुई है, सम्मानपूर्ण उल्लेख न करना अनुचित ही होगा। मैसूर, त्रावंकोर, कोचीन, ग्वालियर, इंदौर, भोपाल, बड़ौदा, बीकानेर, गोंडाल और भावनगर की बाबत यह कहने का साहस कौन कर सकता है कि वे सुशासित राज्य नहीं हैं? जिस दिन सब रजवाड़ों में उदाहरणतः मैसूर जैसा सुशासन स्थापित हो जायगा और जनता के नागरिक अधिकार स्वीकार कर लिए जायँगे, वह दिन भारतीयों के लिए गर्व का दिवस होगा।

भविष्य के लिए आशा

मैं ने घटनाओं का जो सिंहावलोकन किया है तथा उन के संबंध में जो टीका-टिप्पणी की है, उस के फल-स्वरूप यदि एक भी व्यक्ति के हृदय में निराशा का भाव उदय हुआ तो यह मेरी भावना के प्रतिकूल ही होगा। पिछली तीन-चौथाई शताब्दी की घटनाओं से मैं जो निष्कर्ष निकालता हूं वह यह है कि जितना कार्य हो चुका है उस से हमारे हृदय में भविष्य के लिए आशा का संचार होना चाहिए। उन से हमें यह शिक्षा मिलती है कि भारत-माता के पुत्रों तथा पुत्रियों को इस विश्वास के साथ कि भारत अमर है और आज चाहे कितनी ही कटु निराशा का सामना करना पड़े परंतु भविष्य गौरवपूर्ण है, अपनी मातृ-भूमि की निस्स्वार्थ सेवा में अपनी सारी शक्ति लगा देनी चाहिए। जो कोई भी ऊपरी बातों से संतुष्ट न होकर गहराई तक देखने की कोशिश करेगा, वह न तो इस परिणाम पर पहुंचेगा कि जो कुछ है सब ठीक है और अब विशेष प्रयत्न की कोई

आवश्यकता नहीं है और न हमारे राष्ट्रीय प्रयत्न के अंतिम परिणाम की बाबत निराशा की भावना को ही हृदय में स्थान देगा। कांग्रेस के महान् वक्ता के शब्दों में भारत का अतीत गौरवपूर्ण रहा है, उसे वर्तमान में भारी असफलताओं का सामना करना पड़ा है, परंतु उस का भविष्य फिर गौरवपूर्ण होगा।

लोकतंत्र तथा नैतिकता का घनिष्ट संबंध है। लॉर्ड लोथियन ने लिखा है—

लोकतंत्र का वास्तविक तथा अन्यतम रहस्य नैतिकता का नेतृत्व है। लोकतंत्र में पारस्परिक विद्वेषों तथा उत्तेजनाओं के लिए इतनी गुंजाइश रहती है कि वे उस का अंत कर सकती हैं और मनुष्यों के सम्मुख एकतंत्र शासन ही शांति का एकमात्र मार्ग रह जाने के कारण वे उसे फिर अंगीकार कर सकते हैं। इस अवांछनीय परिणाम से लोकतंत्र की रक्षा तभी हो सकती है जब उस में ऐसे व्यक्ति यथेष्ट संख्या में उत्पन्न होते रहें जो हर हालत में नैतिकता का ध्यान रक्खेंगे चाहे इस के लिए उन्हें कितना भी भारी मूल्य चुकाना पड़े।

सार्वजनिक जीवन में नैतिक सिद्धांत किस प्रकार कार्य करता है? लॉर्ड लोथियन के ही शब्दों में इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है—

सार्वजनिक जीवन में नैतिक सिद्धांत किस प्रकार कार्य करता है, इस की व्याख्या कर सकना बहुत आसान नहीं है। नैतिक सिद्धांत का अर्थ यह है कि हम जिसे सत्य तथा उचित समझते हैं उस का निःस्वार्थ भाव से समर्थन करेंगे। राजनीतिक विद्वेष की भावना से अपने कार्यों को प्रभावित न होने देंगे, वास्तविकता का निर्भीकता के साथ सामना करेंगे, अपनी कल्पनाओं से मेल न खानेवाली बातों की उपेक्षा न करेंगे। सार्वजनिक लाभ की खातिर निजी लाभ, महत्वाकांक्षा, पद अथवा प्रतिष्ठा का त्याग करने के लिए सदा तैयार रहेंगे। केवल इसी बात का ध्यान न रक्खेंगे कि लोग क्या चाहते हैं या हमें लोकप्रियता किस

प्रकार प्राप्त हो सकती है, बल्कि सदा अपने विश्वासों के अनुसार जनता की भलाई का ध्यान रक्खेंगे। ज़रूरत हो तो अपनी बुराई तथा निंदा भी सहन करने को तैयार रहेंगे, विरोधियों द्वारा की गई निंदा ही नहीं क्योंकि उसे सहन करना तो आसान होता है, बल्कि उन लोगों द्वारा की गई निंदा भी जिन की हम सेवा करने के लिए उत्सुक हैं और जिन का समर्थन हमारा अवलंबन है। जिस समय आसमान तथा छोटे दिखाई पड़नेवाले परंतु अवांछनीय मार्गों से चलने का लोभ संवरण करना कठिन होगा, उस समय भी बुद्धिमत्ता, निस्स्वार्थता तथा आत्म-संयम से काम लेंगे।

शिक्षा का अधिकाधिक प्रचार, शिक्षित लोगों में सार्वजनिक सेवा की भावना का विस्तार, नेताओं में बुद्धिमत्ता, कार्यकर्ताओं में अनुशासन, विभिन्न संप्रदायों के बीच पारस्परिक विश्वास की वृद्धि, अमीर और ग़रीब तथा स्त्री और पुरुष के आधार पर स्थित भेद-भाव में कमी और सब से बढ़ कर परमपिता की दयालुता में विश्वास—इन बातों के द्वारा भारत अवश्य उन्नति के पथ पर अग्रसर होता चला जायगा। उस के निवासी स्वतंत्र होंगे, सुखी होंगे और समृद्धिशाली होंगे। उस का राष्ट्रों के बीच सम्मान होगा और वेदों तथा वेदांत की भूमि के उपयुक्त ही उस में नैतिकता तथा आध्यात्मिकता का निवास होगा। परमात्मा भारत का कल्याण करे।

ओम् सहनाववतु। सह नौ भुनक्तु।
सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।

सर सी० वाई० चिंतामणि

ग्रंथकार का परिचय

पिछले अस्सी वर्षों में जिन सज्जनों ने भारतीय राजनीति में प्रमुख रूप से भाग लिया है, उन का उल्लेख इस पुस्तक में हो चुका है। परंतु उन में श्री चिंतामणि का भी एक विशिष्ट स्थान है, इसलिए अगर मैं उन का कुछ परिचय दे दूं तो यह अनुचित अथवा अप्रासंगिक न होगा।

श्री चिंतामणि तैलंग ब्राह्मण हैं। उन का जन्म १० अप्रैल सन् १८८० को मद्रास प्रांत में विज़ागापट्टम ज़िले के विजयानगरम नामक नगर में हुआ था। वहीं के स्कूल तथा कॉलेज में आप ने शिक्षा प्राप्त की। सार्वजनिक प्रश्नों में आप को लड़कपन ही से बड़ी दिलचस्पी थी और १८ वर्ष की अवस्था ही में आप ने सार्वजनिक कार्यों में भाग लेना प्रारंभ कर दिया। सन् १९०० में आप प्रथम बार कांग्रेस में सम्मिलित हुए और तभी से उस के उत्साही कार्यकर्ता बन गए। यह एक उल्लेखनीय बात है कि उस कम उम्र में ही आप को कांग्रेस के मंच से प्रस्तावों पर भाषण करने का अवसर मिल गया। सन् १९१७ तक आप कांग्रेस में रहे। फिर नरम और गरम दलों के मतभेद के फलस्वरूप नरम दल वालों ने कांग्रेस से अलग हो कर स्वर्गीय सर सुरेंद्रनाथ बनर्जी की अध्यक्षता में लिबरल पार्टी की स्थापना कर ली। तब से आप उस के एक प्रमुख नेता ही नहीं बल्कि उस के स्तंभों में हैं।

जन्म से मद्रासी होते हुए भी, चिंतामणि जी का अधिकांश जीवन

संयुक्त प्रांत ही में बीता है और अब तो वे इसी प्रांत के हो गए हैं। सन् १६०६ में जब 'लीडर' की स्थापना हुई तब आप उस के संपादक नियुक्त हुए और अब तक उस के प्रधान संपादक हैं। बीच में मिनिस्टर हो जाने पर कुछ समय के लिए आप इस पद से अलग हुए थे। इस प्रांत में राजनीतिक जाग्रति उत्पन्न करने तथा उस के सार्वजनिक जीवन को बल प्रदान करने में आप का बड़ा भाग रहा है। एक सफल संपादक तथा ज़ोरदार लेखक होने के साथ ही आप वक्ता भी बड़े प्रभावशाली हैं और वैसे ही वाद-विवाद में भी पटु हैं। पार्लामेंटरी योग्यता में तो आप इस प्रांत में अपना सानी नहीं रखते। जब तक आप प्रांतीय कौंसिल तथा एसेंबली में रहे, तब तक वहां सब से अधिक धाक आप ही की रही।

श्री चिंतामणि जी एक बार संयुक्त प्रांतीय राजनीतिक सम्मेलन के, दो बार अखिल-भारतीय लिबरल फ़ेडेरेशन के, तथा एक बार अखिल-भारतीय देशी राज्य प्रजा-परिषद् के अध्यक्ष हो चुके हैं। इन के सिवाय और भी कई अवसरों पर आप ने सम्मेलनों का सभापतित्व किया है। सन् १६१६ में आप प्रथम बार संयुक्त प्रांतीय कौंसिल के सदस्य निर्वाचित हुए और १६२३ तक रहे। सन् १६२७ से सन् १६३८ तक फिर उस के सदस्य रहे। मांटेगू सुधारों का प्रारंभ होने पर सन् १६२१ में आप शिक्षा-मंत्री नियुक्त हुए, परंतु अपनी स्वतंत्र प्रकृति के कारण अधिक समय तक उस पद पर रह न सके। १६२३ में गवर्नर से कुछ मतभेद उत्पन्न हो जाने के कारण आप ने उक्त पद से इस्तीफ़ा दे दिया। जिस समय मांटेगू-सुधारों पर विचार हो रहा था, उस समय लिबरल पार्टी के एक प्रतिनिधि की हैसियत से आप पार्लामेंटरी कमेटी के सम्मुख बयान देने के लिए विलायत गए थे और इधर गोलमेज़ कान्फ़रेंस में भी सम्मिलित हुए थे। इसी साल सरकार ने आप को "सर" की उपाधि से विभूषित किया है और कुछ समय पहले प्रयाग विश्वविद्यालय आप को डाक्टर की उपाधि से विभूषित कर चुका है।

अपनी योग्यता, निर्भीकता, देश-भक्ति तथा लगन के परिणाम-स्वरूप आप ने देश के सार्वजनिक जीवन में एक सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है। आप की योग्यता की इतनी धाक है कि इस प्रांत के अनेक कांग्रेसवादियों ने आप से राजनीतिक मतभेद रखते हुए भी उस की मुक्त-कंठ से प्रशंसा की है। आप की निर्भीकता भी वैसी ही असाधारण है। जिस किसी भी विषय पर आप का जो भी विचार हो, उस की स्पष्टता-पूर्वक घोषणा करने में आप ने कभी तनिक भी संकोच नहीं किया। कभी यह नहीं सोचा कि उस से कौन नाराज़ होगा और कौन ख़ुश। अपने विचारों के सम्मुख आप ने न तो कभी सरकार की कृपा की चिंता की और न कभी जनता की ख़ुशी की। इसलिए अनेक अवसरों पर आप सरकार की नाराज़ी के पात्र बने और अनेक बार जनता की कड़ी आलोचना के शिकार हुए। लेकिन ये बातें तो राजनीति में आनी जानी चीज़ें हैं। आप इस बात का सच्चे हृदय से संतोष लाभ कर सकते हैं कि कभी कोई बात आप ने अपने विश्वास के विरुद्ध नहीं कही और न आप ने अपने विश्वासों को कभी "जैसी चले बयार पीठ तब तैसी दीजे" वाली कहावत के अनुसार बदला ही है। ऋषि-कल्प दादाभाई नौरोजी तथा राजर्षि गोखले के सिद्धांतों के अनुयायी के रूप में आप ने अपने राजनीतिक जीवन का प्रारंभ किया था और आज तक आप उन्हीं सिद्धांतों का अटल रूप से पालन करते रहे हैं। लोकप्रियता का प्रेम अथवा सरकारी पद का मोह कभी आप को उन से विचलित नहीं कर सका। आप की सच्चाई तथा योग्यता का ही यह परिणाम है कि आप के विचारों से चाहे कोई सहमत हो चाहे असहमत, परंतु आप का सम्मान सभी करते हैं। न नौकरशाही सरकार ही आप की उपेक्षा कर सकी थी और न कांग्रेसी सरकार ही कर सकी है।

चिंतामणि जी में अध्यवसाय का गुण असाधारण मात्रा में है और उन की स्मरण-शक्ति बड़ी अद्भुत है। इन से भी [illegible] बड़ी महात्मा

मिली है। राजनीति में पक्के राष्ट्रीयतावादी होते हुए भी आप हिंदू हितों की ओर से कभी उदासीन नहीं रहे। सामाजिक मामलों में आप सदा सुधारवादी दल के समर्थक रहे हैं, परंतु धार्मिक विषयों में सच्चे अर्थ में सनातनी हैं। आप के राजनीतिक विचारों की यहां विस्तृत व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि पुस्तक में उन पर स्वयं उन्हीं ने काफ़ी प्रकाश डाल दिया है। । व्यक्तिगत जीवन में आप बड़े मिलनसार, शिष्ट, सीधे-सादे, स्नेही तथा धर्म-प्रेमी हैं। आप का स्वभाव बच्चों-जैसा सरल तथा निष्कपट है। इधर कुछ वर्षों से आप का स्वास्थ्य बहुत बिगड़ गया है और आप अकसर रुग्ण रहने लगे हैं। ईश्वर आप को दीर्घ जीवन प्रदान करे।

चिंतामणि जी का कौटुंबिक जीवन यथेष्ट सुखमय रहा है। उन के कई पुत्र-पुत्रियां हैं। एक पुत्र श्री बालकृष्ण राव आई० सी० एस० हैं और हिंदी के सुकवि।